MATS UNIVERSITY

NAAC GRADE A+ ACCREDITED UNIVERSITY

MATS CENTRE FOR OPEN & DISTANCE EDUCATION

सामाजिक संरचना एवं स्तरीकरण

बैचलर ऑफ़ आर्ट्स (बी.ए.)

चतुर्थ सेमेस्टर

SELF LEARNING MATERIAL

COURSE DEVELOPMENT EXPERT COMMITTEE

1- Prof.(Dr.) Reshma Ansari, HOD Hindi Department, MATS University Raipur Chhattisgarh

2- Dr. Sudhir Sharma, Subject Expert, HOD Hindi Department, Kalyan College, Bhilai

3- Dr. Kamlesh Gogia Associate Professor, MATS University, Raipur, Chhattisgarh

4- Dr. Sunita Shashikant Tiwari Associate Professor, MATS University Raipur Chhattisgarh

5- Dr. Rajesh Kumar Dubey, Subject Expert, Principal, Shahid Rajeev Pandey Government College Bhatagaon, Raipur, Chhattisgarh

6- Dr. Crislya Baxla, Late Jaidev Sathpathi Government College, Basna

COURSE COORDINATOR

Dr. Kamlesh Gogia Associate Professor, MATS University, Raipur, Chhattisgarh

COURSE /BLOCK PREPARATION

Dr. Kamlesh Gogia Associate Professor, MATS University, Raipur, Chhattisgarh

March, 2025

ISBN- 978-93-49916-54-8

@MATS Centre for Distance and Online Education, MATS University, Village- Gullu, Aarang, Raipur-(Chhattisgarh)

All rights reserved. No part of this work may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form, by mimeograph or any other means, without permission in writing from MATS University, Village- Gullu, Aarang, Raipur-(Chhattisgarh)

Printed & Published on behalf of MATS University, Village-Gullu, Aarang, Raipur by Mr. Meghanadhudu Katabathuni, Facilities & Operations, MATS University, Raipur (C.G.)

Disclaimer-Publisher of this printing material is not responsible for any error or dispute from contents of this course material, this is completely depends on AUTHOR'S MANUSCRIPT.
Printed at: The Digital Press, Krishna Complex, Raipur-492001(Chhattisgarh)

विषय सूची

माड्यूल–1 सामाजिक संरचना की अवधारणा

इकाई–1 सामाजिक संरचना का अर्थ, संरचना और सामाजिक संगठन
भारत में सामाजिक संरचना 5–14

इकाई–2 धर्म, अर्थ, परिभाषा, विशेषताएं, मौलिक तत्व सामाजिक नियंत्रण
में धर्म की भूमिका 15–23

इकाई–3 शिक्षा, अर्थ एवं परिभाषा, सामाजिक नियंत्रण में शिक्षा की भूमिका 23–27

इकाई–4 राजनीति, राज्य के मौलित तत्व, कार्य, सामाजिक नियंत्रण में भूमिका,
जाति और राजनीति, दबावकारी समूह 23–45

माड्यूल–2 व्यक्ति एवं समाज

इकाई–5 परिचय, व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध, सिद्धांत, व्यक्ति कि समाज पर निर्भरता
मनुष्य पर समाज का प्रभाव 46–52

इकाई–6 सामजीकरणः अर्थ एवं परिभाषा, प्रक्रिया विशेषताए
सामाजीकरण के प्रमुख अभिकरण एवं संस्थाएं 52–63

इकाई–7 संस्कृतिः अर्थ एवं परिभाषा, प्रक्रिया विशेषताए, प्रकार सभ्यता, अर्थ, परिभाषा 63–69

इकाई–8 सामाजिक नियंत्रण, अर्थ, परिभाषा, विशेषताएं, उद्देश्य 69–78

माड्यूल–3 सामाजिक स्तरीकरण एवं गतिशीलता

इकाई–9 सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ, परिभाषा, विशेषता, स्वरूप, सिद्धांत,
प्रकार्य, अकार्य 79–91

इकाई–10 सामाजिक गतिशीलता, अर्थ, प्रकार 91–94

माड्यूल–4 सामाजिक परिवर्तन

इकाई–11 सामाजिक परिवर्तन का अर्थ, परिभाषा, विशेषता, प्रतिमान
सामाजिक परिवर्तन के प्रमुख कारक 95–116

इकाई–12 सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांत 116–124

माड्यूल–5 व्यावहारिक समाजशास्त्र का परिचयः समाजसास्त्र और समाजिक समस्याएँ

इकाई–13 व्यावहारिक समाजशास्त्रका अर्थ, उद्देश्य, सामाजिक समस्या के तत्व, कारण,
समाधान, बाधाएँ, सामाजिक समस्याओं का वैज्ञानिक अध्ययन 125–138

इकाई–14 समाजशास्त्र तथा सामाजिक परिवर्तन 139–147

Acknowledgement

The Material (Pictures and images) we have used is purely for educational purpose. Every effort has been made to trace the copyright holders of material reproduced in this book. Sould any infringement have occurred, the publishers and editors apologize and will be pleased to make the necessary corrections in future of this book.

ekM îy&1

सामाजिक संरचना की अवधारणा

इस अध्याय के अंतर्गत

- सामाजिक संरचना का अर्थ
- संरचना और सामाजिक संगठन
- संरचनात्मक कार्यात्मकता
- वर्ग और शक्ति के सिद्धांत
- संरचनावाद
- भारत में सामाजिक संरचना

अध्ययन के उद्देश्य

- सामाजिक संरचना की मूल अवधारणा को समझ सकेंगे
- संरचनावाद और संरचनात्मक कार्यात्मकता की जानकारी मिलेगी
- भारत की सामाजिक संरचना की विशेषताओं से अवगत हो सकेंगे

NOTES

bdkbZ&1 lkekftd lajpuk dk vFkZ] lajpuk vkSj lkekftd lxBu Hkkjr esa lkekftd lajpuk

सामाजिक संरचना, समाजशास्त्र में, संस्थाओं की विशिष्ट, स्थिर व्यवस्था जिसके द्वारा समाज में मनुष्य परस्पर क्रिया करते हैं और साथ रहते हैं। सामाजिक संरचना को अक्सर सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा के साथ जोड़कर देखा जाता है, जो सामाजिक संरचना और समाज के संगठन को बदलने वाली शक्तियों से संबंधित हैहालाँकि यह आम तौर पर माना जाता है कि सामाजिक संरचना शब्द सामाजिक जीवन में नियमितताओंको संदर्भित करता है, लेकिन इसका अनुप्रयोग असंगत है। उदाहरण के लिए, इस शब्द को कभी-कभीगलत तरीके से लागू किया जाता है जब अन्य अवधारणाएँ जैसे कि रिवाज, परंपरा, भूमिका या मानदंडअधिक सटीक होते हैं।

सामाजिक संरचना के अध्ययन एकीकरण और असमानता में प्रवृत्तियों जैसे मामलों को समझाने का प्रयास करते हैं। इन घटनाओं के अध्ययन में, समाजशास्त्री संगठनों, सामाजिक श्रेणियों (जैसे आयु समूह), या दरों (जैसे अपराध या जन्म) का विश्लेषण करते हैं। यह दृष्टिकोण, जिसे कभी-कभी औपचारिक समाजशास्त्र कहा जाता है, सीधे व्यक्तिगत व्यवहार या पारस्परिक संपर्क को संदर्भित नहीं करता है। इसलिए, सामाजिक संरचना के अध्ययन को एक व्यवहार विज्ञान नहीं माना जाता है; इस स्तर पर, विश्लेषण बहुत अमूर्त है। यह ठोस मानव व्यवहार के विचार से एक कदम दूर है, भले ही सामाजिक संरचना में अध्ययन की गई घटनाएँ मनुष्यों द्वारा एक-दूसरे और अपने वातावरण के प्रति प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप होती हैं। हालाँकि, जो लोग सामाजिक संरचना का अध्ययन करते हैं, वे शोध, कार्यप्रणाली और ज्ञानमीमांसा के लिए एक अनुभवजन्य (अवलोकनात्मक) दृष्टिकोण का पालन करते हैं।

सामाजिक संरचना को कभी-कभी केवल पैटर्न वाले सामाजिक संबंधों के रूप में परिभाषित किया जाता है - किसी दिए गए सामाजिक इकाई के सदस्यों के बीच बातचीत के वे नियमित और दोहराव वाले पहलू। इस वर्णनात्मक स्तर पर भी, अवधारणा अत्यधिक अमूर्त है: यह चल रही सामाजिक गतिविधियों से केवल कुछ तत्वों का चयन करती है। जितनी बड़ी सामाजिक इकाई पर विचार किया जाता है, अवधारणा उतनी ही अमूर्त होती है। इस कारण से, एक छोटे समूह की सामाजिक संरचना आम तौर पर एक बड़े समाज की सामाजिक संरचना की तुलना में अपने व्यक्तिगत सदस्यों की दैनिक गतिविधियों से अधिक निकटता से संबंधित होती है। बड़े सामाजिक समूहों के अध्ययन में, चयन की समस्या तीव्र होती है: बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि सामाजिक संरचना के घटकों के रूप में क्या शामिल है। विभिन्न सिद्धांत एक सामाजिक समूह की प्राथमिक विशेषताओं को निर्धारित करने की इस समस्या के लिए अलग-अलग समाधान प्रस्तुत करते हैं।

हालाँकि, इन विभिन्न सैद्धांतिक विचारों पर चर्चा करने से पहले, किसी भी समाज की सामाजिक संरचना के सामान्य पहलुओं पर कुछ टिप्पणियाँ की जानी चाहिए। सामाजिक जीवन समय और स्थान के आयामों के साथ संरचित होता है। विशिष्ट सामाजिक गतिविधियाँ विशिष्ट समय पर होती हैं, और समय को उन अवधियों में विभाजित किया जाता है जो सामाजिक जीवन की लय से जुड़ी होती हैं - दिन, महीने और वर्ष की दिनचर्या। विशिष्ट सामाजिक गतिविधियाँ भी विशिष्ट स्थानों पर आयोजित की जाती हैं; उदाहरण के लिए, विशेष स्थानों को काम करने, पूजा करने, खाने और सोने जैसी गतिविधियों के लिए नामित किया जाता है। क्षेत्रीय सीमाएँ इन स्थानों को चित्रित करती हैं और संपत्ति के नियमों द्वारा परिभाषित की जाती हैं जो दुर्लभ वस्तुओं के उपयोग और कब्जे को निर्धारित करती हैं। इसके अतिरिक्त, किसी भी समाज में श्रम का कमोबेश नियमित विभाजन होता है। मानव समाजों की एक और सार्वभौमिक संरचनात्मक विशेषता हिंसा का विनियमन है। सभी हिंसा एक संभावित विघटनकारी शक्ति है; साथ ही, यह गतिविधियों के

बलपूर्वक और समन्वय का एक साधन है। मनुष्यों ने राष्ट्रों जैसी राजनीतिक इकाइयाँ बनाई हैं, जिनके भीतर हिंसा के उपयोग को सख्ती से विनियमित किया जाता है और साथ ही, बाहरी समूहों के खिलाफ हिंसा के उपयोग के लिए संगठित किया जाता है। इसके अलावा, किसी भी समाज में यौन प्रजनन और बच्चों की देखभाल और शिक्षा के लिए संरचना के भीतर व्यवस्थाएं होती हैं। ये व्यवस्थाएं आंशिक रूप से रिश्तेदारी और विवाह संबंधों का रूप लेती हैं। अंत में, प्रतीकात्मक संचार की प्रणालियाँ, विशेष रूप से भाषा, किसी भी समाज के सदस्यों के बीच बातचीत की संरचना करती हैं।

संरचना और सामाजिक संगठन

संरचना शब्द का प्रयोग 19वीं शताब्दी से ही मानव समाजों के लिए किया जाता रहा है। उस समय से पहले, इसका प्रयोग निर्माण या जीव विज्ञान जैसे अन्य क्षेत्रों में अधिक आम था।

कार्ल मार्क्स ने निर्माण को एक रूपक के रूप में इस्तेमाल किया जब उन्होंने "समाज की आर्थिक संरचना [Struktur] की बात की, जिसका वास्तविक आधार एक कानूनी और राजनीतिक अधिरचना [Überbau] है और जिसके अनुरूप सामाजिक चेतना के निश्चित रूप हैं।" इस प्रकार, मार्क्स के अनुसार, समाज की मूल संरचना आर्थिक या भौतिक है, और यह संरचना शेष सामाजिक जीवन को प्रभावित करती है, जिसे गैर-भौतिक, आध्यात्मिक या वैचारिक के रूप में परिभाषित किया जाता है।

संरचना शब्द के जैविक अर्थ ब्रिटिश दार्शनिक हर्बर्ट स्पेंसर के काम में स्पष्ट हैं। उन्होंने और 19वीं और 20वीं शताब्दी के आरंभिक सामाजिक सिद्धांतकारों ने समाज को एक जीव के रूप में माना जिसमें परस्पर निर्भर भाग शामिल हैं जो एक जीवित शरीर की शारीरिक रचना के समान संरचना बनाते हैं। हालाँकि स्पेंसर और मार्क्स के बाद से सामाजिक वैज्ञानिक सामाजिक संरचना की अवधारणा पर असहमत रहे हैं, लेकिन उनकी परिभाषाएँ समान तत्वों को साझा करती हैं। सबसे सामान्य तरीके से, सामाजिक संरचना की पहचान एक सामाजिक इकाई (समाज या समाज के भीतर एक समूह) की उन विशेषताओं से होती है जो समय के साथ बनी रहती हैं, परस्पर संबंधित होती हैं, और समग्र रूप से इकाई के कामकाज और उसके व्यक्तिगत सदस्यों की गतिविधियों दोनों को प्रभावित करती हैं। सामाजिक संरचना के समकालीन समाजशास्त्रीय संदर्भों की उत्पत्ति का पता एमिल दुर्खीम से लगाया जा सकता है, जिन्होंने तर्क दिया कि समाज के हिस्से एक-दूसरे पर निर्भर हैं और यह अन्योन्याश्रितता संस्थाओं और उनके सदस्यों के व्यवहार पर संरचना लागू करती है। दूसरे शब्दों में, दुर्खीम का मानना था कि व्यक्तिगत मानव व्यवहार बाहरी ताकतों द्वारा आकार दिया जाता है। इसी तरह, अमेरिकी मानवविज्ञानी जॉर्ज पी। मर्डोक ने अपनी पुस्तक सोशल स्ट्रक्चर (1949) में, पूर्व-साक्षर समाजों में नातेदारी प्रणालियों की जांच की और सामाजिक संरचना का उपयोग नातेदारी प्रणालियों के विभिन्न पहलुओं को वर्गीकृत करने, तुलना करने और सहसंबंधित करने के लिए एक वर्गीकरण उपकरण के रूप में किया। सामाजिक संरचना की धारणा में कई विचार निहित हैं। सबसे पहले, मनुष्य सामाजिक संबंध बनाते हैं जो मनमाने और संयोगवश नहीं होते बल्कि कुछ नियमितता और निरंतरता प्रदर्शित करते हैं। दूसरा, सामाजिक जीवन अव्यवस्थित और निराकार नहीं है, बल्कि वास्तव में कुछ समूहों, पदों और संस्थाओं में विभेदित है जो अन्योन्याश्रित या कार्यात्मक रूप से परस्पर संबंधित हैं। तीसरा, व्यक्तिगत विकल्प सामाजिक वातावरण द्वारा आकार और सीमाबद्ध होते हैं, क्योंकि सामाजिक समूह, हालांकि व्यक्तियों की सामाजिक गतिविधियों द्वारा गठित होते हैं, व्यक्तिगत सदस्यों की इच्छाओं और इरादों का प्रत्यक्ष परिणाम नहीं होते हैं। सामाजिक संरचना की धारणा का तात्पर्य है, दूसरे शब्दों में, कि मनुष्य अपनी पसंद और कार्यों में पूरी तरह से स्वतंत्र और स्वायत्त नहीं हैं, बल्कि वे उस सामाजिक दुनिया से विवश हैं जिसमें वे रहते हैं और एक दूसरे के साथ जो सामाजिक संबंध बनाते हैं।

मानव समाज की इन और अन्य सामान्य विशेषताओं के व्यापक ढांचे के भीतर, समाजों के बीच और भीतर सामाजिक रूपों की एक विशाल विविधता है। कुछ सामाजिक वैज्ञानिक सामाजिक संरचना की अवधारणा का उपयोग सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं के लिए एक व्यवस्था बनाने के लिए एक उपकरण के रूप में करते हैं। अन्य अध्ययनों में, अवधारणा अधिक सैद्धांतिक महत्व की है; इसे एक व्याख्यात्मक अवधारणा, मानव सामाजिक जीवन को समझने की कुंजी के रूप में माना जाता है। समानताओं और विविधताओं दोनों को ध्यान में रखते हुए कई सिद्धांत विकसित किए गए हैं। इन सिद्धांतों में सामाजिक जीवन के कुछ पहलुओं को बुनियादी और इसलिए सामाजिक संरचना के केंद्रीय घटक माना जाता है। इनमें से कुछ प्रमुख सिद्धांतों की समीक्षा यहाँ की गई है।

संरचनात्मक कार्यात्मकता

ब्रिटिश सामाजिक मानवविज्ञानी ए.आर. रेडक्लिफ-ब्राउन ने सामाजिक संरचना की अवधारणा को अपने दृष्टिकोण में केंद्रीय स्थान दिया और इसे कार्य की अवधारणा से जोड़ा। उनके विचार में, सामाजिक संरचना के घटकों में एक दूसरे के लिए अपरिहार्य कार्य होते हैं - एक घटक का निरंतर अस्तित्व अन्य घटकों पर निर्भर करता है - और समग्र रूप से समाज के लिए, जिसे एक एकीकृत, जैविक इकाई के रूप में देखा जाता है। पूर्व-साक्षर समाजों के उनके तुलनात्मक अध्ययनों ने प्रदर्शित किया कि संस्थाओं की परस्पर निर्भरता सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन के अधिकांश भाग को नियंत्रित करती है। रेडक्लिफ-ब्राउन ने सामाजिक संरचना को अनुभवजन्य रूप से पैटर्नयुक्त या "सामान्य" सामाजिक संबंधों (सामाजिक गतिविधियों के वे पहलू जो स्वीकृत सामाजिक नियमों या मानदंडों के अनुरूप होते हैं) के रूप में परिभाषित किया। ये नियम समाज के सदस्यों को सामाजिक रूप से उपयोगी गतिविधियों से जोड़ते हैं।

अमेरिकी समाजशास्त्री टैल्कॉट पार्सन्स ने सामाजिक संरचना पर अपनी अंतर्दृष्टि का उपयोग करके एक सिद्धांत तैयार करने के लिए दुर्खीम और रेडक्लिफ-ब्राउन के काम को विस्तृत किया जो बड़े और जटिल समाजों के लिए मान्य था। पार्सन्स के लिए, सामाजिक संरचना अनिवार्य रूप से मानक थी - अर्थात, "मानक संस्कृति के संस्थागत पैटर्न" से मिलकर बनी थी। दूसरे शब्दों में, सामाजिक व्यवहार उन मानदंडों, मूल्यों और नियमों के अनुरूप होता है जो विशिष्ट स्थितियों में व्यवहार को निर्देशित करते हैं। ये मानदंड अलग-अलग अभिनेताओं की स्थिति के अनुसार अलग-अलग होते हैं: वे अलग-अलग भूमिकाएँ परिभाषित करते हैं, जैसे कि विभिन्न व्यावसायिक भूमिकाएँ या पति-पिता और पत्नी-माँ की पारंपरिक भूमिकाएँ। इसके अलावा, ये मानदंड जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग होते हैं और सामाजिक संस्थाओं के निर्माण की ओर ले जाते हैं - उदाहरण के लिए, संपत्ति और विवाह। मानदंड, भूमिकाएँ और संस्थाएँ जटिलता के विभिन्न स्तरों पर सामाजिक संरचना के सभी घटक हैं।

बाद के समाजशास्त्रियों ने स्पेंसर और पार्सन्स जैसे विद्वानों द्वारा सामाजिक संरचना की परिभाषाओं की आलोचना की क्योंकि उनका मानना था कि कार्य (1) सादृश्य का अनुचित उपयोग करता है, (2) कार्यात्मकता के साथ अपने जुड़ाव के माध्यम से यथास्थिति का बचाव करता है, (3) कुख्यात रूप से अमूर्त है, (4) संघर्ष और परिवर्तन की व्याख्या नहीं कर सकता है, और (5) अनुभवजन्य पुष्टि के लिए एक पद्धति का अभाव है।

वर्ग और शक्ति के सिद्धांत

पार्सन्स के काम की कई कारणों से आलोचना की गई, खास तौर पर इसलिए क्योंकि उन्होंने शक्ति, धन और अन्य सामाजिक पुरस्कारों की असमानताओं पर तुलनात्मक रूप से कम ध्यान दिया। अमेरिकी

समाजशास्त्री रॉबर्ट के. मेर्टन जैसे कार्यात्मकवादियों सहित अन्य सामाजिक सिद्धांतकारों ने सामाजिक संरचना की अपनी अवधारणाओं में इन "वितरणीय" गुणों को अधिक केंद्रीय स्थान दिया। मेर्टन और अन्य लोगों के लिए, सामाजिक संरचना में न केवल मानक पैटर्न शामिल हैं, बल्कि शक्ति, स्थिति और भौतिक विशेषाधिकारों की असमानताएं भी शामिल हैं, जो समाज के सदस्यों को व्यापक रूप से अलग-अलग अवसर और विकल्प प्रदान करती हैं।

जटिल समाजों में, ये असमानताएं विभिन्न स्तरों या वर्गों को परिभाषित करती हैं, जो समाज की स्तरीकरण प्रणाली या वर्ग संरचना का निर्माण करती हैं। सामाजिक संरचना के दोनों पहलू, मानक और वितरणात्मक पहलू, दृढ़ता से परस्पर जुड़े हुए हैं, जैसा कि इस अवलोकन से अनुमान लगाया जा सकता है कि विभिन्न वर्गों के सदस्यों के अक्सर अलग-अलग और यहां तक कि परस्पर विरोधी मानदंड और मूल्य होते हैं।

इससे संरचनात्मक कार्यात्मकता के विपरीत विचार सामने आता है: समाज में कुछ मानदंड उनके नैतिक मूल्य के बारे में किसी आम सहमति के कारण नहीं बल्कि इसलिए स्थापित किए जा सकते हैं क्योंकि उन्हें उन लोगों द्वारा आबादी पर थोपा जाता है जिनके पास ऐसा करने में रुचि और इसे लागू करने की शक्ति दोनों होती है। एक उदाहरण के लिए, दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद के "मानदंड" आबादी के केवल एक वर्ग के हितों और मूल्यों को दर्शाते थे, जिसके पास उन्हें बहुमत पर लागू करने की शक्ति थी। वर्ग और शक्ति के सिद्धांतों में, इस तर्क को सामान्यीकृत किया गया है: मानदंड, मूल्य और विचारों को परस्पर विरोधी हितों वाले समूहों के बीच शक्ति की असमानताओं के परिणाम के रूप में समझाया जाता है। इस प्रकार का सबसे प्रभावशाली सिद्धांत मार्क्सवाद या ऐतिहासिक भौतिकवाद रहा है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण को मार्क्स के वाक्यांश "शासक वर्ग के विचार, हर युग में, शासक विचार हैं" में संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। इन विचारों को वर्ग हितों के प्रतिबिंब के रूप में माना जाता है और वे सत्ता संरचना से जुड़े होते हैं, जिसे वर्ग संरचना के साथ पहचाना जाता है। यह मार्क्सवादी मॉडल, जिसे पूंजीवादी समाजों के लिए विशेष रूप से मान्य होने का दावा किया गया था, की बहुत आलोचना हुई है। एक बुनियादी समस्या आर्थिक संरचना और आध्यात्मिक अधिरचना के बीच का अंतर है, जिन्हें क्रमशः सामाजिक अस्तित्व और चेतना के साथ पहचाना जाता है। इससे पता चलता है कि आर्थिक गतिविधियाँ और संबंध अपने आप में किसी तरह चेतना से स्वतंत्र हैं, जैसे कि वे मनुष्यों से स्वतंत्र रूप से घटित होते हैं।

फिर भी, मार्क्सवादी मॉडल गैर-मार्क्सवादी सामाजिक वैज्ञानिकों के बीच भी प्रभावशाली हो गया। भौतिक संरचना और अभौतिक अधिरचना के बीच का अंतर समाजशास्त्रीय पाठ्यपुस्तकों में सामाजिक संरचना और संस्कृति के बीच के अंतर के रूप में परिलक्षित होता रहता है। यहाँ सामाजिक संरचना से तात्पर्य उन तरीकों से है जिनसे लोग परस्पर जुड़े हुए हैं या एक दूसरे पर निर्भर हैं; संस्कृति से तात्पर्य उन विचारों, ज्ञान, मानदंडों, रीति-रिवाजों और क्षमताओं से है जिन्हें उन्होंने समाज के सदस्यों के रूप में सीखा और साझा किया है।

संरचनावाद

सामाजिक संरचना की अवधारणा के लिए एक और महत्वपूर्ण सैद्धांतिक दृष्टिकोण संरचनावाद (जिसे कभी-कभी फ्रेंच संरचनावाद भी कहा जाता है) है, जो मानव अभिव्यक्ति की अंतर्निहित, अचेतन नियमितताओं का अध्ययन करता है - अर्थात, वे अप्राप्य संरचनाएँ जिनका व्यवहार, समाज और संस्कृति पर अवलोकनीय प्रभाव पड़ता है। फ्रांसीसी मानवविज्ञानी क्लाउड लेवी-स्ट्रॉस ने इस सिद्धांत को संरचनात्मक भाषाविज्ञान से प्राप्त किया, जिसे स्विस भाषाविद् फर्डिनेंड डी सॉसर ने विकसित किया

था। सॉसर के अनुसार, कोई भी भाषा इस अर्थ में संरचित होती है कि उसके तत्व गैर-मनमाने, नियमित, नियम-बद्ध तरीकों से परस्पर जुड़े होते हैं; भाषा का एक सक्षम वक्ता इन नियमों का बड़े पैमाने पर पालन करता है, बिना इसके बारे में जाने। सिद्धांतकार का कार्य इस अंतर्निहित संरचना का पता लगाना है, जिसमें परिवर्तन के नियम शामिल हैं जो संरचना को विभिन्न देखी गई अभिव्यक्तियों से जोड़ते हैं।

लेवी-स्ट्रॉस के अनुसार, इसी पद्धति को सामान्य रूप से सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन पर लागू किया जा सकता है। उन्होंने रिश्तेदारी प्रणालियों, मिथकों और खाना पकाने और खाने के रीति-रिवाजों की अंतर्निहित संरचना से संबंधित सिद्धांतों का निर्माण किया। संरचनात्मक विधि, संक्षेप में, व्यापक रूप से भिन्न सामाजिक और सांस्कृतिक रूपों की सामान्य संरचना का पता लगाने का दावा करती है। हालाँकि, यह संरचना ठोस अभिव्यक्तियों को निर्धारित नहीं करती है; यह उत्पन्न होने वाली अभिव्यक्तियों की विविधता संभावित रूप से असीमित है। इसके अलावा, लेवी-स्ट्रॉस के अनुसार, सामाजिक और सांस्कृतिक रूपों की विविधता उत्पन्न करने वाली संरचनाएँ अंततः मानव मन की बुनियादी विशेषताओं को दर्शाती हैं। मानव मन, व्याकरण और भाषा जैसी संरचनाओं को कभी-कभी "गहरी संरचनाएँ" या "उपसंरचनाएँ" कहा जाता है। चूँकि ऐसी संरचनाएँ आसानी से देखने योग्य नहीं होती हैं, इसलिए उन्हें मिथकों, भाषा या ग्रंथों के गहन व्याख्यात्मक विश्लेषण से पहचाना जाना चाहिए। फिर उन्हें सामाजिक संस्थाओं के रीति-रिवाजों या लक्षणों को समझाने के लिए लागू किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, फ्रांसीसी दार्शनिक मिशेल फौकॉल्ट ने शारीरिक दंड के अपने अध्ययन में इस दृष्टिकोण का उपयोग किया। उनके शोध ने उन्हें यह निष्कर्ष निकालने के लिए प्रेरित किया कि उदार राज्यों द्वारा शारीरिक दंड का उन्मूलन एक भ्रम था, क्योंकि राज्य ने कैदियों के व्यवहार और समाज में सभी के व्यवहार दोनों की निगरानी और नियंत्रण करके "आत्मा" को दंडित किया। 1960 के दशक में फ्रांस में संरचनावाद एक बौद्धिक फैशन बन गया, जहाँ रोलांड बार्थेस, फौकॉल्ट और लुइस अल्थुसर जैसे अलग-अलग लेखकों को नए सैद्धांतिक प्रवाह के प्रतिनिधि के रूप में माना जाता था। हालाँकि, इस व्यापक अर्थ में, संरचनावाद एक सुसंगत सैद्धांतिक दृष्टिकोण नहीं है। उदाहरण के लिए, अल्थुसर का मार्क्सवादी संरचनावाद, लेवी-स्ट्रॉस के मानवशास्त्रीय संरचनावाद से बहुत दूर है। संरचनात्मक पद्धति, जब विभिन्न विद्वानों द्वारा लागू की जाती है, तो अलग-अलग परिणाम देती है। संरचनात्मक कार्यात्मकता, वर्ग सिद्धांतों और संरचनावाद के खिलाफ शुरू की गई आलोचना का हमला सामाजिक संरचना की अवधारणा की समस्याग्रस्त प्रकृति को इंगित करता है। फिर भी सामाजिक संरचना की धारणा को खत्म करना आसान नहीं है, क्योंकि यह सामाजिक जीवन में निरंतरता, नियमितता और अंतर्संबंध के विचारों को व्यक्त करता है 1970 के दशक के मध्य में सामान्य समाजशास्त्रीय सिद्धांत पर अपने कार्य की शुरुआत करते हुए, ब्रिटिश समाजशास्त्री एंथनी गिडेंस ने संरचनाकरण शब्द का सुझाव दिया, ताकि यह दृष्टिकोण व्यक्त किया जा सके कि सामाजिक जीवन, एक निश्चित सीमा तक, गतिशील और व्यवस्थित दोनों है।

सामाजिक संरचना सिद्धांत और संरचनावाद के बीच महत्वपूर्ण अंतर दृष्टिकोण का है। सामाजिक संरचना का विश्लेषण समाज के बारे में सामान्यीकरण पर पहुंचने के लिए मानक अनुभवजन्य (अवलोकनात्मक) तरीकों का उपयोग करता है, जबकि संरचनावाद व्यक्तिपरक, व्याख्यात्मक, परिघटना संबंधी और गुणात्मक विश्लेषण का उपयोग करता है। अधिकांश समाजशास्त्री सामाजिक संरचना दृष्टिकोण को प्राथमिकता देते हैं और संरचनावाद को दार्शनिक मानते हैं - यानी, सामाजिक विज्ञानों की तुलना में मानविकी के साथ अधिक संगत। फिर भी, समाजशास्त्रियों की एक महत्वपूर्ण संख्या इस बात पर जोर देती है कि संरचनावाद उनके अनुशासन में एक वैध स्थान रखता है।

सामाजिक संरचना सिद्धांत में बाद के रुझान

सामाजिक संरचना के क्षेत्र में अनुसंधान करने वालों ने सीमित लेकिन व्यावहारिक लक्ष्यों का पीछा किया है। उन्होंने समाज में संरचनात्मक नियमितताओं के लिए सिद्धांतों, कानूनों, सामान्यीकरणों, गणनाओं और विधियों के विकास पर ध्यान केंद्रित किया है। हालाँकि, वे समाज में असीमित संरचनात्मक नियमितताओं (जैसे भाषाई दिनचर्या, राष्ट्रीय सीमाओं की स्थायित्व, धार्मिक प्रथाओं की स्थिरता, या लिंग या नस्लीय असमानता की स्थायित्व) को प्रदर्शित करने से चिंतित नहीं हैं।

ठोस शब्दों में, संरचनात्मक विश्लेषण का कार्य गरीबी का हिसाब देना नहीं है, उदाहरण के लिए, बल्कि गरीबी की दरों का हिसाब देना है। इसी तरह, विश्लेषण अनुभवजन्य डेटा पर केंद्रित है जैसे कि दुनिया में शहरों का वितरण, भूमि उपयोग के पैटर्न, शैक्षिक उपलब्धि में बदलाव, व्यावसायिक संरचना में परिवर्तन, क्रांतियों की अभिव्यक्ति, संस्थानों के बीच सहयोग में वृद्धि, समूहों के बीच नेटवर्क का अस्तित्व, विभिन्न प्रकार के संगठनों की दिनचर्या, संगठनों और संस्थानों में वृद्धि या गिरावट के चक्र, या व्यक्तिगत विकल्पों के अनपेक्षित सामूहिक परिणाम।

केवल कुछ समाजशास्त्रियों ने संरचनात्मक सिद्धांत विकसित किए हैं जो संस्थानों और पूरे समाजों पर लागू होते हैं - एक दृष्टिकोण जिसे मैक्रोसोशियोलॉजी के रूप में जाना जाता है। गेरहार्ड लेन्स्की ने पावर एंड प्रिविलेज (1966) में समाजों को उनके निर्वाह के मुख्य साधनों के आधार पर वर्गीकृत किया और मार्क्स के विपरीत, सांख्यिकीय रूप से प्रदर्शित किया कि किसी दिए गए समाज में उपयोग किए जाने वाले प्राथमिक साधनों में भिन्नताएं व्यवस्थित रूप से विभिन्न प्रकार की सामाजिक स्तरीकरण प्रणालियों के लिए जिम्मेदार हैं।

समाजशास्त्र में एक संपूर्ण विशेषज्ञता मानव पारिस्थितिकी (1986) में एमोस हॉले द्वारा विकसित एक संरचनात्मक सिद्धांत पर बनाई गई है। हॉले के लिए, व्याख्यात्मक चर जनसंख्या की संरचना, बाहरी वातावरण, संगठनों का परिसर और प्रौद्योगिकी हैं। शोध से पता चला है कि ये चर दुनिया के विभिन्न हिस्सों में समुदायों के बीच स्थानिक विशेषताओं, गतिविधियों की लय, गतिशीलता पैटर्न और बाहरी संबंधों में अंतर के लिए जिम्मेदार हैं। इस ढांचे को विश्व पारिस्थितिकी तंत्र पर लागू करते हुए, हॉले ने इसके विस्तार और विकास की समस्या पर ध्यान केंद्रित किया। मार्क्सवादी विश्व प्रणाली सिद्धांत के विपरीत, जो राजनीतिक कारकों पर जोर देता है, हॉले के काम ने प्रौद्योगिकी को महत्वपूर्ण कारक के रूप में महत्व दिया। उन्होंने तर्क दिया कि प्रौद्योगिकी का विकास और प्रसार जनसंख्या वृद्धि की ओर ले जाता है, भूमि पर बोझ डालता है, और संस्थानों के संगठन में बदलाव को प्रेरित करता है। हॉले के अनुसार, सबसे खराब स्थिति में, विस्तार की दीर्घकालिक लागत ध्रुवीकरण और असमानता, शहरी क्षय, पर्यावरण विनाश और राजनीतिक अस्थिरता को जन्म देगी, जिसके परिणामस्वरूप समय के साथ पारिस्थितिकी तंत्र का पुनर्व्यवस्थापन होगा। अवसरों के संरचनात्मक संदर्भ (1994) में, पीटर एम. ब्लाउ ने सामाजिक जीवन पर बड़ी जनसंख्या संरचनाओं के प्रभावों के बारे में एक औपचारिक मैक्रोसोशियोलॉजिकल सिद्धांत विकसित किया। उन्होंने पहचाना कि विभिन्न जनसंख्या समूह एक दूसरे से कैसे संबंधित हैं। उन्होंने पाया कि व्यावसायिक विविधता विभिन्न स्थिति समूहों में लोगों के बीच संपर्क की संभावना को बढ़ाती है। बहु-समूह संबद्धता वाली आबादी के लिए, इन-ग्रुप एसोसिएशन अंतर-समूह संबंधों को बढ़ावा देते हैं। ये कुछ ऐसे तरीके हैं जिनसे तार्किक रूप से तैयार किए गए अमूर्त सामान्यीकरण समाज के बारे में अंतर्दृष्टि प्रदान करते हैं। इस तरह के निष्कर्षों को मैक्रोसोशियोलॉजिकल या संरचनात्मक सिद्धांत के माध्यम से प्राप्त किया जाता है और व्यक्तियों या अलग-थलग समूहों के अध्ययन के माध्यम से आसानी से उपलब्ध नहीं होते हैं।

निष्कर्ष

सामाजिक संरचना और सामाजिक परिवर्तन सामाजिक वैज्ञानिकों द्वारा उपयोग की जाने वाली सामान्य अवधारणाएँ हैं, विशेष रूप से समाजशास्त्र और सामाजिक और सांस्कृतिक नृविज्ञान के क्षेत्रों में। उन्हें अक्सर ध्रुवीकृत अवधारणाओं के रूप में माना जाता है, जिसमें सामाजिक संरचना सामाजिक जीवन की बुनियादी विशेषताओं को संदर्भित करती है - जो एक स्थायी और स्थायी गुणवत्ता प्रदर्शित करती है - और सामाजिक परिवर्तन इसके विपरीत को दर्शाता है। हालाँकि, दोनों अवधारणाओं के बीच का संबंध अधिक जटिल है। उदाहरण के लिए, सामाजिक संरचना को वास्तविक या संभावित परिवर्तन की कुछ मान्यता के बिना पर्याप्त रूप से अवधारणागत नहीं किया जा सकता है, ठीक उसी तरह जैसे सामाजिक परिवर्तन, कमोबेश एक नियमित प्रक्रिया के रूप में, समय के साथ संरचित होता है और निरंतरता की धारणा के बिना अकल्पनीय है। दोनों अवधारणाएँ, अंत में, समाज, उसके पैटर्न और परिवर्तन के पैटर्न की पूरी समझ में योगदान दे सकती हैं।

संरचनावाद

भारत में सामाजिक संरचना

किसी भी राष्ट्र के शांति और सद्भाव में रहने के लिए, उसके पास एक उचित सामाजिक संरचना होनी चाहिए। इसमें संस्थाओं की स्थिर और विशिष्ट व्यवस्था शामिल है, जिसके तहत लोग एक साथ रहते हैं और बिना किसी डर के बातचीत करते हैं। हमारे परिवार, अर्थव्यवस्था, वर्ग, धर्म, कानून आदि सभी सामाजिक संरचनाओं के उदाहरण हैं। एक सामाजिक संरचना को लोगों और समाज की संस्थाओं की विविधता के तरीके या मानदंडों को तय करने के लिए कहा जाता है।

भारतीय समाज की संरचना बहु-क्षेत्रीय और बहुभाषी है, इसलिए यह एक जटिल सामाजिक संरचना बनाती है।

सामाजिक संरचना हर समाज में होती है, चाहे उसका इतिहास, जातीयता या सांस्कृतिक परिवर्तनशीलता कुछ भी हो। जैसा कि हम जानते हैं, भारत अपनी विविधता के लिए जाना जाता है। भारतीय समाज की संरचना हर चीज में परिवर्तनशील है, चाहे वह धर्म, जाति, भाषा, संस्कृति, परंपरा, खान-पान की आदतें या कुछ भी हो। ये सभी तत्व एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं, इस प्रकार एक सामाजिक संरचना बनती है। भारत में सामाजिक संरचना को एक सामाजिक व्यवस्था की बुनियादी श्रेणियों के बीच के संबंध के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। नस्लीय और भाषाई विविधता, एक जटिल समाज की उपस्थिति, क्षेत्रवाद, जातिवाद, एक पारंपरिक समाज की उपस्थिति, बहुसंस्कृतिवाद आदि भारतीय समाज की सामाजिक संरचना की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताएं हैं।

भारत की सामाजिक संरचना की विशेषताएँ:

परंपरा

भारतीय समाज की संरचना ऐसी है कि यहाँ आधुनिकता और परंपरा साथ-साथ चलती है। आधुनिकीकरण के परिणामस्वरूप नए चलन और फैशन के साथ लोगों की जीवनशैली में भी बदलाव आता है। हालाँकि, वह विशिष्ट भारतीय परंपरा अभी भी मौजूद है और चाहे कितने भी नए चलन क्यों न आएँ, हमेशा बनी रहेगी। यह भारतीय समाज की विशेषता है।

सांप्रदायिकता का अस्तित्व

सांप्रदायिकता को विभिन्न समुदायों के लोगों के बीच संघर्ष भड़काने या जातीय या धार्मिक पहचान बनाने और ऐसे समूहों के बीच सांप्रदायिक हिंसा भड़काने के विचार के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। सांप्रदायिकता का अस्तित्व भारत में सामाजिक संरचना के नकारात्मक पहलुओं में से एक है। देश में पहले भी कई ऐसी घटनाएँ हुई हैं जब सांप्रदायिक दंगों या सांप्रदायिकता से उत्पन्न कृत्यों ने देश के सद्भाव को बाधित किया है और बहुत नुकसान पहुँचाया है।

जटिल समाज

भारतीय समाज की संरचना में जटिल सामाजिक व्यवस्था है और इसी कारण से इसे 'बहुलवादी' समाज भी कहा जाता है। इसकी विशेषता विभिन्न भाषाएँ, जातीयताएँ, जाति विभाजन और धर्म हैं। इस जटिल संरचना का भारत की सामाजिक संरचना पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है।

विविध भाषाएँ:

संविधान में उल्लेखित 87% से अधिक भारतीय आबादी द्वारा 22 प्रमुख भाषाएँ बोली जाती हैं। उनमें से 31% हिंदी बोलते हैं। भारत में लोगों में अपनी मातृभाषा के प्रति इतना स्नेह और प्रेम है कि वहाँ बोली जाने वाली प्रमुख भाषा के नाम पर कई राज्यों के नाम हैं। इसलिए, भारत के राजनीतिक और सामाजिक माहौल में भाषाएँ एक महत्वपूर्ण कारक हैं। इसलिए, भारत में सामाजिक वातावरण की एक और विशेषता भाषाओं में विविधता है।

ग्रामीण समाज

भारत हमेशा से एक ऐसा देश रहा है जिसने सबसे अधिक गरीबी देखी है। इसकी लगभग 70% आबादी का जीवन स्तर बहुत अच्छा नहीं है। गरीबी रेखा से नीचे के लोगों की स्थिति और भी खराब है। उनके पास किसी भी चीज़ तक पहुँच नहीं है, चाहे वह उचित स्वच्छता, पोषण, सफाई या अन्य चीजें हों। वे सभी सुविधाओं से वंचित हैं। यद्यपि भारत की अर्थव्यवस्था प्रगति कर रही है और संपन्न लोगों को लाभ मिल रहा है, लेकिन लाभ अभी भी गरीबों तक नहीं पहुँच पाया है। अब इस मुद्दे को हल करने के लिए कुछ उपाय किए जा रहे हैं। हमारे देश में गरीबों की स्थिति को बेहतर बनाने के लिए कई सरकारी और गैर-सरकारी संगठन आगे आ रहे हैं।

जाति

भारत में सामाजिक संरचना की सबसे प्रमुख विशेषताओं में से एक जाति रही है। भारत में जाति व्यवस्था की गहरी ऐतिहासिक जड़ों के कारण, इसे समाप्त नहीं किया जा सकता है। हालाँकि, सरकार अब इस मामले को देख रही है और जातियों को यथासंभव समाप्त करने का प्रयास कर रही है। सरकार ने अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों के अधिकारों के लिए कई अधिनियम भी बनाए हैं। उन्हें विभिन्न क्षेत्रों में आरक्षण भी मिलता है। जातिवाद ने भारत के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

स्वतंत्र आवागमन का अभाव

शहरी और ग्रामीण लोगों के बीच बहुत बड़ा अंतर है। राष्ट्रीय स्तर पर इस तरह के अंतर और विविधताओं

के बावजूद, देश की सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था स्थिर बनी हुई है। यह जानकर दुख होता है कि आजादी के इतने सालों बाद भी समाज के कई वर्गों को अभी भी कई काम करने की आजादी नहीं है।

NOTES

निष्कर्ष

हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि भारत में सामाजिक संरचना एक, दो या तीन नहीं बल्कि कई कारकों से चिह्नित है। इस लेख में बताई गई विशेषताएं भी इस संरचना की जटिलता और परिवर्तनशीलता का पूरी तरह से वर्णन करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। भारतीय सामाजिक संरचना का अर्थव्यवस्था को प्रभावित करने वाले विभिन्न क्षेत्रों पर बहुत बड़ा प्रभाव है। सामाजिक संरचना के सभी घटक मानव व्यवहार को व्यवस्थित, सीमित और निर्देशित करके सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने के लिए मिलकर काम करते हैं।

bdkÃ&2
धर्म

इस अध्याय के अन्तर्गत :

- धर्म का अर्थ और परिभाषाएँ
- धर्म की प्रमुख विशेषताएँ एवं इसके मौलिक तत्व
- सामाजिक नियंत्रण में धर्म की भूमिका
- मानव-व्यवहार पर नियंत्रण
- आर्थिक जीवन पर नियंत्रण
- शिक्षा का अर्थ एवं इसकी परिभाषाएँ
- सामाजिक नियंत्रण में शिक्षा की भूमिका
- शिक्षा के स्वरूप या प्रकार
- राज्य का अर्थ एवं परिभाषाएँ
- राज्य के मौलिक तत्व एवं कार्य
- सामाजिक नियंत्रण में राज्य की भूमिका
- जाति और राजनीति तथा इनमें अन्तः क्रिया
- दबाव समूह का अर्थ एवं परिभाषाएँ
- दबाव गुट या समूह की विशेषताएँ या लक्षण
- भारत में प्रमुख दबाव समूह
- राजनीतिक दलों के प्रमुख कार्य
- राजनीतिक दलों तथा दबावकारी समूहों में अन्तर
- भारतीय दबाव समूहों की विशेषताएँ

अध्याय के उद्देश्य :

- इस अध्याय के अध्ययन के उपरांत आप जान सकेंगे :
- धर्म का अर्थ, इसकी परिभाषाएँ, इसकी विशेषताएँ एवं मौलिक तत्व

NOTES

- सामाजिक नियंत्रण में धर्म की भूमिका
- मानव व्यवहार एवं आर्थिक जीवन पर नियंत्रण शिक्षा का अर्थ एवं इसकी परिभाषाएँ
- सामाजिक नियंत्रण में शिक्षा की भूमिका
- शिक्षा के स्वरूप या प्रकार
- राज्य का अर्थ, इसकी परिभाषाएँ, इसके मौलिक तत्व एवं कार्य
- सामाजिक नियंत्रण में राज्य की भूमिका
- जाति और राजनीति तथा इनमें अन्तः क्रिया
- दबाव समूह का अर्थ एवं परिभाषाएँ
- दबाव गुट या समूह की विशेषताएँ
- भारत में प्रमुख दबाव समूह
- राजनीतिक दलों के प्रमुख कार्य
- राजनीतिक दलों तथा दबावकारी समूहों में अन्तर एवं भारतीय दबावसमूहों की विशेषताएँ

परिचय (Introduction)

धर्म मानव समाज की एक सार्वभौमिक घटना है। इसका तात्पर्य यह है कि धर्म की अभिव्यक्ति प्रत्येक समाज में पाई जाती है। धर्म व्यक्ति का सम्बन्ध पारलौकिक सत्ता अर्थात् अर्थात् ईश्वर से स्थापित करता है। इस प्रकार धर्म वह संस्था है, जो अलौकिक सत्ता तथा व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों के विचार पर आधारित होता है। सामाजिक नियन्त्रण के एक शक्तिशाली माध्यम के रूप में धर्म आदिम काल से ही प्रत्येक समाज में विद्यमान रहा है। नियन्त्रण के अन्य साधनों की तुलना में धर्म का सम्बन्ध व्यक्ति के मस्तिष्क की अपेक्षा मन से अधिक होता है। इसीलिए धर्म अन्य साधनों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होता है।

मानव जीवन तथा प्रकृति में अनेक घटनाएँ घटित होती रहती हैं; जिन पर व्यक्ति का कोई नियन्त्रण नहीं है। जन्म तथा विभिन्न आयु में व्यक्तियों की मृत्यु, दिन और रात का क्रम, ऋतु परिवर्तन, घनघोर वर्षा, आँधी, तूफान, भूकम्प, बाढ़ अकाल, महामारी आदि प्राकृतिक घटनाएँ मनुष्य की समझ से परे हैं। इन घटनाओं को देखकर मनुष्य के मन में यह विचार पनपता है कि मानव से श्रेष्ठ कोई अलौकिक शक्ति है जो संसार की समस्त घटनाओं को नियन्त्रित एवं निर्देशित करती है। अलौकिक शक्ति को अपने पक्ष में लाने, प्रसन्न करने तथा इसके प्रति पवित्रता की भावना के कारण अनेक विश्वासों और क्रियाओं का विकास हुआ। अलौकिक शक्ति के प्रति मनुष्य के विश्वास और क्रियाएँ ही धर्म की आधारशिला हैं।

धर्म-अर्थ एवं परिभाषा (Religion : Meaning and Definition)

धर्म अँग्रेजी भाषा के शब्द रिलीजन (Religion) का हिन्दी रूपान्तरण है। रिलीजन शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के 'Religio' से मानी जाती है; जिसका अर्थ बाँधने से है। इस अर्थ में रिलीजन का तात्पर्य मनुष्य को अलौकिक शक्ति से सम्बन्धित करना है। अलौकिक शक्ति से सम्बन्धित विश्वासों, मान्यताओं, क्रियाओं, आराधना, प्रार्थना, पूजा की विधियों आदि के सम्मिलित रूप को धर्म कहते हैं। विभिन्न विद्वानों तथा समाजशास्त्रियों ने धर्म को निम्नांकित प्रकार से परिभाषित किया है।

1. हॉबल के शब्दों में, "धर्म अलौकिक शक्ति के ऊपर विश्वास पर आधारित है जो आत्मावाद और मानवतावाद को सम्मिलित करता है।

   हॉबल की परिभाषा की व्याख्या करने पर स्पष्ट होता है कि धर्म ऐसे विश्वासों की सम्पूर्णता का नाम है जो किसी अलौकिक शक्ति से सम्बन्धित होते हैं। धर्म के अन्तर्गत कई प्रकार के विश्वास पाए जाते हैं। कुछ धर्म आत्मावाद में विश्वास रखते हैं। टायलर के अनुसार आत्मा की धारणा ही आदि मनुष्यों से लेकर सभ्य मनुष्यों तक के धर्म के दर्शन का आधार है। धार्मिक विश्वास माना की धारणा से भी सम्बन्धित होते हैं।"माना' से तात्पर्य एक अलौकिक जीवित सत्ता से है, जो जड़ और चेतन प्रत्येक वस्तु में विद्यमान होती है। इस सत्ता में विश्वास एवं आराधना और पूजा से ही धर्म की उत्पत्ति हुई है।

2. जेम्स फ्रेजर का मत है "धर्म से मैं मनुष्य से श्रेष्ठ उन शक्तियों की सन्तुष्टि या आराधना समझता हूँ जिनके सम्बन्ध में यह विश्वास किया जाता है कि वे प्रकृति और मानव जीवन को मार्ग दिखाते और नियंत्रित करते हैं।"

   जेम्स फ्रेजर की परिभाषा से स्पष्ट होता है कि मानव से श्रेष्ठ शक्तियों से ही धर्म का सम्बन्ध होता है। यह विश्वास किया जाता है कि ये श्रेष्ठ शक्तियाँ प्राकृतिक एवं मानवीय घटनाओं को निर्देशित और नियन्त्रित करती हैं। इसलिए इन श्रेष्ठ शक्तियों से लाभ उठाने के लिए तथा इनके कोप से बचने के लिए

मनुष्य प्रार्थना, पूजा, तथा आराधना द्वारा इनको प्रसन्न रखता है। श्रेष्ठ शक्ति के प्रति अनेक प्रकार के विश्वास विकसित होते जाते हैं। ये विश्वास ही सभी धर्मों के आधार हैं।

3. मैलिनोवस्की के अनुसार, "धर्म क्रिया की एक विधि है और साथ ही विश्वासों की एक व्यवस्था भी, और धर्म एक समाजशास्त्रीय घटना के साथ-साथ एक व्यक्तिगत अनुभव भी है।"

   मैलिनोवस्की ने धर्म की परिभाषा समाजशास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से दी है। प्रत्येक ध र्म में विश्वासों की एक व्यवस्था पाई जाती है। यह विश्वास किसी अलौकिक शक्ति, आत्मा, परमात्मा आदि पर होता है। इसके साथ ही प्रत्येक धर्म में विश्वास से सम्बन्धित कुछ क्रियाएँ होती हैं। इन क्रियाओं की अभिव्यक्ति प्रार्थना, पूजा या आराधना के रूप में होती है। धर्म एक सामाजिक घटना है। इसका तात्पर्य यह है कि धर्म का सम्बन्ध किसी व्यक्ति विशेष से न होकर सम्पूर्ण समाज से होता है। धर्म का सम्बन्ध व्यक्तिगत अनुभवों से भी होता है। इन अनुभवों के आधार पर किसी धर्म को मानना या न मानना व्यक्ति पर निर्भर करता है।

4. एडवर्ड टायलर के मतानुसार, "धर्म आध्यात्मिक शक्ति पर विश्वास है "। एडवर्ड टायलर ने ध र्म की अत्यन्त संक्षिप्त परिभाषा प्रस्तुत की है। टायलर के अनुसार आध्यात्मिक शक्ति में विश्वास करना ही धर्म है। आध्यात्मिक शक्ति से तात्पर्य अलौकिक शक्ति से है। अलौकिक शक्ति के विषय में न तो विज्ञान यह सिद्ध कर सकता है कि उसका अस्तित्व है और न ही यह सिद्ध कर सकता है कि इसका अस्तित्व नहीं है। अलौकिक शक्ति में पूजा, प्रार्थना, आराधना तथा क्रियाओं द्वारा विश्वास किया जाता है।

धर्म की प्रमुख विशेषताएँ एवं धर्म के मौलिक तत्त्व
(Chief Characteristics of Religion and Essential Elements of Religion)

एक सर्वभौमिक घटना के रूप में धर्म की प्रमुख विशेषता अथवा मौलिक तत्त्व निम्नलिखित हैं-

1. अलौकिक शक्ति में विश्वास (Belief in Supernatural Power)-प्रत्येक धर्म की प्रमुखविशेषता एक अलौकिक शक्ति में विश्वास है। अलौकिक शक्ति को स्पष्ट करते हुए जॉनसन ने लिखा है, "कोई भी वस्तु अलौकिक है जिसके अस्तित्व के विश्वास का आधार प्रमाणरहित हो। इस अर्थ में अलौकिक वस्तु प्रमाणित होती हैं।" अलौकिक शक्ति मानवीय शक्ति से श्रेष्ठ एवं महान होती है। यह शक्ति समस्त प्राकृतिक एवं सामाजिक घटनाओं को निर्देशित एवं नियन्त्रित करती है। इस अलौकिक शक्ति का स्वरूप विभिन्न धर्मों के अनुसार साकार एवं निराकार हो सकता है। कुछ समाज अलौकिक शक्ति को बहुदेववाद के रूप में देखते हैं तथा कुछ एकेश्वरवाद का रूप प्रदान करते हैं।

2. पवित्रता की धारणा (Concept of Sacredness) प्रत्येक धर्म का सम्बन्ध पवित्रता की ध रणा से है। अपने-अपने धर्म से सम्बन्धित अलौकिक शक्ति या शक्तियाँ-साकार या निराकार तथा अति प्राकृतिक वस्तुओं को सभी लोग पवित्र मानते हैं। इस सम्बन्ध में दुर्खीम ने धर्म की परिभाषा देते हुए लिखा है," धर्म पवित्र वस्तुओं से सम्बन्धित विश्वासों और आचरणों की संगठित व्यवस्था है जो इस पर विश्वास करने वालों को एक नैतिक समुदाय में संयुक्त करती है।"दुर्खीम के अनुसार धर्म में केवल पवित्र विश्वास ही सम्मिलित होते हैं। इसी कारण मन्दिर के देवताओं की मूर्तियों तथा सम्बन्धित वस्तुओं को पवित्र माना जाता है।

3. धार्मिक विश्वास एवं क्रियाएँ (Religious Beliefs and performances)-विभिन्न धार्मिक विश्वास तथा सम्बन्धित क्रियाएँ मानव जीवन को प्रारम्भिक आस्था से ही प्रभावित करने लगती हैं। इस सम्बन्ध में गिलिन और गिलिन का मत है, "धर्म के समाजशास्त्रीय क्षेत्र के अन्तर्गत एक समूह में अलौकिक से सम्बन्धित उद्देश्यपूर्ण विश्वास तथा इन विश्वासों से सम्बन्धित वाह्य व्यवहार, भौतिक वस्तुएँ और प्रतीक आते हैं।" अलौकिक शक्ति में विश्वास की अभिव्यक्ति कुछ धार्मिक क्रियाओं की सहायता से होती है। इन धार्मिक क्रियाओं में अनुष्ठान तथा कर्मकाण्ड, प्रार्थना, पूजा, एवं आराधना, यज्ञ, हवन, बलि, समाज, व्रत, जप, नृत्य आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। धार्मिक क्रियाओं का उद्देश्य एक ओर अलौकिक शक्ति के प्रकोप से बचना तथा दूसरी ओर उसे प्रसन्न करके अपने मन की इच्छा की पूर्ति करना होता है।

4. संवेगात्मक आधार (Emotional Basis) अलौकिक शक्ति में विश्वास के साथ व्यक्ति की अनेक संवेगात्मक भावनाएँ जुड़ी रहती हैं। लोगों में यह विश्वास पनप जाता है कि प्रसन्न होने पर अलौकिक शक्ति कल्याण करती है तथा अप्रसन्न होने पर हानि पहुँचा सकती है। इसलिए इस शक्ति के प्रति एक ओर आदर, प्रेम, श्रद्धा, भक्ति आदि की भावनाओं का विकास होता है तो दूसरी ओर भय की भावना विकसित हो जाती है।

   प्रत्येक धर्म में अनेक प्रतीकों तथा पौराणिक गाथाओं का समावेश होता है। मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, गिरजाघर, मठ आदि सांस्कृतिक गतिविधियों एवं धार्मिक मूल्यों के प्रतीक होते हैं। रामायण, गीता, कुरान, बाइबिल, विभिन्न प्रतिमाएँ, क्रॉस, मोमबत्ती, गंगाजल, अगरबत्ती, धूपबत्ती, दीपक, विशेष प्रकार के वस्त्र, झण्डे, त्रिशूल आदि धार्मिक प्रतीकों के उदाहरण हैं। विभिन्न प्रतिमाएँ ईश्वर का प्रतीक होती हैं। पवित्र पुस्तकें ईश्वरीय ज्ञान की प्रतीक होती हैं। दीपक आध्यात्मिक प्रकाश तथा गंगाजल अमृत का प्रतीक होता है। इसी प्रकार प्रत्येक धर्म में कुछ लोक कथाएँ, पौराणिक गाथाएँ आदि प्रचलित होती हैं। जो प्रतीकों एवं विराट पुरुषों का महत्त्व स्पष्ट करके ईश्वरीय चमत्कारों का गुणगान करती हैं।

6. निषेध (Taboos)-संसार में कोई भी ऐसा धर्म नहीं है; जिसमें धार्मिक निषेध न पाए जाते हों। निषेधों का सम्बन्ध धार्मिक पवित्रता से होता है तथा वे व्यक्ति के व्यवहार के नकारात्मक पक्ष से सम्बन्धित होते हैं-निषेधों से तात्पर्य व्यक्ति के उन व्यवहारों से है, जो उसे नहीं करने चाहिए। असत्य, अपवित्रता, अत्याचार, अनैतिक यौन-सम्बन्ध, छल-कपट, बेईमानी, प्राणी-हत्या, आदि निषेध सभी धर्मों में पाए जाते हैं। जूते पहन कर तथा बिना स्नान किए हुए किसी व्यक्ति द्वारा धार्मिक संस्कारों को करने का निषेध है।

7. धार्मिक संस्तरण (Religious Stratification)-प्रत्येक धर्म में एक संस्तरण पाया जाता है। संस्तरण से तात्पर्य विभिन्न व्यक्तियों एवं समूहों की उच्च एवं निम्न स्थिति से होता है। शंकराचार्य, पुरोहित, भगत, मुल्ला, इमाम, पोप, पादरी आदि को धार्मिक संस्तरण में उच्च स्थान प्राप्त होता है। इन धार्मिक व्यक्तियों को उच्च सामान्य व्यक्तियों की तुलना में अधिक पवित्र माना जाता है तथा इन्हें धार्मिक कार्यों को करने के विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं। अपवित्र व्यवसाय एवं कार्यों को करने वाले व्यक्तियों को इस संस्तरण में निम्नतम स्थान प्राप्त होता है।

सामाजिक नियन्त्रण में धर्म की भूमिका
(Rule or Importance or Religion in Social Control)

आदिम अवस्था से लेकर सभ्य अवस्था तक धर्म सामाजिक नियन्त्रण का अत्यन्त प्रभावशाली माध्यम रहा है। व्यक्ति के जीवन की सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से धर्म द्वारा ही नियन्त्रित एवं निर्देशित होती हैं। अनेक धार्मिक अनुष्ठान, कर्मकाण्ड, तथा संस्कार व्यक्ति के व्यवहारों, आदतों एवं विचारों को नियन्त्रित करता है। धर्म की भूमिका एवं महत्त्व के सम्बन्ध में नीत्से (Nitche) ने उचित ही कहा है-"धर्म ज्ञान है-यह मनुष्य के अन्दर स्वयं के हेतु अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है, कठिनतम समस्याओं का समाधान करता है तथा हम लोगों के साथ पूर्ण समन्वय रखता है और हमारे मस्तिष्क को पूर्ण पवित्र बनाता है।"मैलिनोवस्की (Malinowski), रैडक्लिफ ब्राउन (Radcliff Brown), इवान्स रिचार्ड (Evans Prichard), दुर्खीम (Durkheim), मैक्स वेबर (Max Waber) आदि विद्वानों ने अपने अध्ययनों से स्पष्ट किया है कि धर्म व्यक्तिगत नियन्त्रण और सामाजिक एकता को बनाए रखने का महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। सामाजिक नियन्त्रण में धर्म की भूमिका को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है-

1. मानव व्यवहार पर नियन्त्रण (Control Over human Behaviour) धर्म मानव व्यवहारों पर नियन्त्रण रखने का एक महत्त्वपूर्ण साधन रहा है। धर्म का सम्बन्ध एक ऐसी शक्ति से है जो अलौकिक है तथा समस्त सामाजिक एवं प्राकृतिक घटनाओं का संचालन करती है। धर्म का सम्बन्ध पवित्र एवं अलौकिक वस्तुओं से होता है। अलौकिक वस्तु में विशेष शक्ति मानी जाती है। इस सम्बन्ध में गिलिन और गिलिन का मत है कि, "अलौकिक क्षेत्र शक्ति से पूर्ण होता है।" व्यक्ति अलौकिक शक्ति के कोप से बचने के लिए तथा दूसरी ओर उन्हें प्रसन्न करके लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से धार्मिक नियमों और आदर्शों का पालन करता है। प्रत्येक धर्म में लोक-परलोक, पाप-पुण्य एवं नरक-स्वर्ग आदि से सम्बन्धित अनेक विश्वास पाए जाते हैं। इन धार्मिक विश्वासों द्वारा व्यक्ति का व्यवहार नियन्त्रित होता है।

2. मानव में सद्गुणों का विकास (Development of Good Qualities in Men)-धर्म, मानव में सद्गुणों का विकास करके सामाजिक नियन्त्रण में महत्त्वपूर्ण योगदान देता है। धर्म व्यक्ति में प्रेम, दया, परोपकार, सहानुभूति, अनुशासन, सहनशीलता, ईमानदारी, सत्य, अहिंसा, सद्भावना, सहयोग आदि गुणों को विकसित करता है। विभिन्न धार्मिक विश्वास, आदर्श नियम, अनुष्ठान, कर्मकाण्ड आदि का व्यक्तित्व विकास एवं चरित्र निर्माण में महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। सद्गुणों के विकसित हो जाने से व्यक्ति समाज विरोधी कार्य करने का साहस नहीं कर पाता है। इस प्रकार धर्म व्यक्ति के आचरण को नियन्त्रित करके सामाजिक नियन्त्रण बनाए रखने में सहायक होता है।

3. नैतिकता का नियम (Regulation of Morality)-प्रत्येक धर्म का मुख्य कार्य समाज में नैतिकता के स्तर को बनाए रखना है। इस सम्बन्ध में जॉनसन का विचार है कि, धर्म एकमात्र ऐसी अभिकरण है जो व्यक्ति के सामने नैतिक मूल्यों के महत्त्व को स्पष्ट करता है और व्यक्ति को यह बताता है कि समाज के अन्य लोग उससे कैसे आचरण की आशा करते हैं।"धर्म की आचार-संहिता में घृणा, द्वेष, कपट, क्लेश, अत्याचार, बेईमानी, असत्य, शोषण, अपराध, हिंसा, आदि अधार्मिक तत्त्व माने जाते हैं। सभी धर्म नैतिक और अनैतिक, उचित और अनुचित, कल्याणकारी और अकल्याणकारी के अन्तर को स्पष्ट करते हैं। धर्म व्यक्ति को निराशा से बचाता है और दुःख तथा संकट में भी उसकी नैतिकता को बनाए रखता है। इस प्रकार सभी धर्म नैतिक नियमों के आधार पर व्यक्तियों के व्यवहार को नियन्त्रित करते हैं।

4. भावनात्मक सुरक्षा का विकास (Development of Sentimental Security)-प्रत्येक ध र्म अपने अनुयायियों के मन में सुरक्षा की भावना विकसित करके उनके व्यवहार को नियन्त्रित करता है। एक धार्मिक व्यक्ति संसार में अपने को अकेला न मानकर अलौकिक शक्ति को अपने साथ समझता है। उसका यह दृढ़ विश्वास होता है कि बीमारी, वृद्धावस्था, दुर्घटना, वैधव्य, बेकारी आदि विपत्तियों के आने पर अलौकिक शक्ति उसकी सहायता करेगी। इसी विश्वास के कारण व्यक्ति जीवन की समस्याओं का सामना उत्साहपूर्वक करता है।

5. सामाजिक एकीकरण को प्रोत्साहन (Encouragement to Social Integration)-धर्म एक समूह के सदस्यों के मध्य एकीकरण की भावना को प्रोत्साहित करता है। एकीकरण का तात्पर्य एक प्रक्रिया से है; जिससे अनेक समूहों के बीच एकता की भावना उत्पन्न होती है। समाज में देवी-देवता तथा समान पूजा-विधि होने के कारण एक धर्म के लोगों में हम की भावना (We Feeling) उत्पन्न हो जाती है। समान विचारों, आदर्शों, विश्वासों, भावनाओं, संस्कारों, व्यवहारों आदि के कारण व्यक्ति परस्पर सहयोग करते हैं। अलौकिक शक्ति से डर के कारण सदस्य अपने-अपने दायित्वों को निभाकर सामाजिक संरचना को व्यवस्थित रखते हैं।''गीता' में प्रत्येक व्यक्ति को स्वध र्म के अनुसार आचरण करने को कहा गया है। ऐसा न करने पर व्यक्ति पाप का भागीदार बनता है। स्वधर्म का पालन करने से सदस्यों के बीच एकीकरण की भावना में वृद्धि होती है। इस सम्बन्ध में जॉनसन ने स्पष्ट किया है कि, "धर्म कभी भी एकीकरण करने वाली एकमात्र शक्ति नहीं है बल्कि यह अनेक साधनों में से है जो एकीकरण को प्रक्रिया में योगदान करता है।" इस प्रकार ध र्म सामाजिक एकीकरण में वृद्धि करके सामाजिक नियन्त्रण के अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न करता है।

6. पवित्रता की भावना का विकास (Development of the Feeling of Sacredness)-धर्म मानव आचरण में पवित्रता की भावना का विकास करके व्यक्तिगत एवं सामाजिक नियन्त्रण का महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। दुर्खीम ने संसार की समस्त घटनाओं तथा मानवजीवन को पवित्र (Sacred) तथा अपवित्र (Profane) दो भागों में विभाजित किया है। धर्म उन वस्तुओं, घटनाओं तथा व्यवहारों से सम्बन्धित है जो पवित्र माने जाते हैं। धर्म अपने अनुयायियों को अपवित्र कार्यों से दूर रहने की तथा केवल पवित्र कार्यों को करने की शिक्षा देता है। केवल पवित्र को अपनाना ही धर्म है तथा पवित्र और अपवित्र को मिला देना पाप है। पापयुक्त अथवा अपवित्र कार्यों से मुक्त होने के लिए शुद्धिकरण की क्रियाएँ भी धर्म के अन्तर्गत आती हैं। पापियों को पवित्र करने, साध रण व्यक्ति को एक धर्म-परायण व्यक्ति में परिवर्तित करने तथा धार्मिक व्यक्ति को पवित्रता के उच्चतम शिखर तक पहुँचाने के लिए धार्मिक उत्सवों एवं कृत्यों का आयोजन किया जाता है। इस प्रकार धर्म व्यक्ति के अपवित्र कार्यों अथवा समाज विरोधी कार्यों पर प्रतिबन्ध लगाकर सामाजिक नियन्त्रण में सहायता करता है।

7. व्यक्तित्व का विकास (Development of Personality)-व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करने में धर्म का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। धार्मिक शिक्षा परिवार में बाल्यावस्था से ही प्रारम्भ हो जाती है। विभिन्न धार्मिक संस्कारों, नियमों और विश्वासों द्वारा व्यक्ति का समाजीकरण होता है। उचित और अनुचित कार्य का निर्देशन धर्म से ही प्राप्त होता है। धर्म व्यक्ति में आत्म-विश्वास एवं साहस की भावना उत्पन्न करता है तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में भी उसे सद्मार्ग पर चलने को प्रेरित करता है। वास्तव में धर्म सद्गुणों का विकास करके व्यक्ति को एक आदर्श नागरिक बनने में सहायता करता है।

8. आर्थिक जीवन पर नियन्त्रण (Control over Economic Life) धर्म व्यक्ति एवं समाज के आर्थिक जीवन को प्रभावित एवं नियन्त्रित करता है। प्राचीन भारतीय अर्थव्यवस्था धर्म पर आध ारित थी।

महाभारत, मनुस्मृति, उपनिषद् आदि धार्मिक पुस्तकें व्यक्ति को अच्छे कार्यों तथा ईमानदारी द्वारा धन अर्जन का निर्देश देती हैं। भारतीय समाज में विभिन्न व्यवसाय से सम्बन्धित लोग अपने-अपने औजारों तथा यन्त्रों की पूजा विशेष उत्सवों एवं अवसरों पर करते हैं। किसी आर्थिक कार्य को आरम्भ करने से पूर्व भी अलौकिक शक्ति का स्मरण किया जाता है। हिन्दू धर्म ने आध्यात्मिक उन्नति को ही सांसारिक सुख का प्रमुख आधार माना। मैक्स वेबर (Max Weber) ने विश्व के छः महान धर्मों-हिन्दू, इस्लाम, ईसाई, बौद्ध, यहूदी, कन्फ्यूशियस आदि का अध्ययन करके इस विचारधारा का प्रतिपादन किया कि किसी समाज की अर्थ-व्यवस्था उस समाज के धार्मिक स्वरूप द्वारा निर्देशित होती है। उदाहरण के लिए प्रोटेस्टेण्ट धर्म की विशेषताओं-''कर्म ही पूजा है' (Work is Worship) और ''समय ही धन है' (Time is Money) आदि ने पूँजीवाद को जन्म दिया। इसी कारण पूँजीवाद का सर्वोत्तम विकास इंग्लैण्ड, अमेरिका, हॉलैण्ड आदि में हुआ; जहाँ लोग प्रोटेस्टेण्ट धर्म के अनुयायी हैं।

वास्तव में सामाजिक नियन्त्रण के साधनों में धर्म ही एकमात्र साधन है जो मानव जीवन के समस्त पक्षों को प्रभावित करता है। इस सम्बन्ध में थॉमस ओडिया ने उचित ही कहा है कि,'' धर्म व्यक्ति का समूह से एकीकरण करता है, अनिश्चितता की स्थिति में उसकी सहायता करता है, निराशा के क्षणों में उसको ढांढस बँधाता है, सामाजिक लक्ष्यों के प्रति व्यक्ति को जागरूक बनाता है, आत्मबल में वृद्धि करता है और एक-दूसरे के समीप आने की भावना को प्रोत्साहन देता है।'' आदिकाल से ही धर्म ने किसी न किसी रूप में मानव-समाज को सुव्यवस्थित एवं सच्चरित्र बनाने का प्रयत्न किया है। नरक और स्वर्ग, पाप और पुण्य की अवधारणा में विश्वास के कारण व्यक्ति असामाजिक एवं कानून विरोधी कार्यों से दूर रहता है। भारतीय समाज में कर्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त के कारण प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्थिति से सन्तुष्ट रहता है तथा अच्छे कर्मों को करके मोक्ष की प्राप्ति चाहता है।

धर्म समूह के सदस्यों को एकता के सूत्र में तो बाँधता है, लेकिन उनकी विचारधारा को संकीर्ण बना देता है। इस संकीर्णता के कारण विभिन्न धार्मिक समूहों के मध्य साम्प्रदायिक संघर्ष होने लगते हैं। इसके अतिरिक्त धर्म के कारण रूढ़िवादी और प्रगतिशील वर्गों में भी संघर्ष पाया जाता है। इन संघर्षों के कारण सामाजिक संरचना अव्यवस्थित हो जाती है। आधुनिक समय में यद्यपि विज्ञान, पाश्चात्य शिक्षा, राजकीय हस्तक्षेप, शिक्षा का प्रसार आदि के कारण सामाजिक नियन्त्रण में धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है। धर्म के महत्व के सम्बन्ध में टॉल्स्टॉय ने कहा है, ''धर्म का मानव समाज के लिए भूतकाल की भाँति आज भी वही उपयोग है, अर्थात् वह मनुष्य समाज की प्रधान प्रेरक शक्ति और हृदय है। उसके बिना मनुष्य जीवन उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार हृदय के बिना शक्ति का बना रहना।''

सामाजिक नियन्त्रण के क्षेत्र में शिक्षा एवं शिक्षण संस्थाओं का महत्त्व निरन्तर बढ़ता जा रहा है। शिक्षा व्यक्तित्व विकास का एक माध्यम है और जो संस्थाएँ शिक्षा प्रदान करने का काम करती हैं, उन्हें शिक्षण संस्थाएँ कहा जाता है। शिक्षा औपचारिक एवं अनौपचारिक दोनों ही रूप में व्यक्ति के व्यवहार को नियन्त्रित करती है। कुछ समय पूर्व तक भारतीय समाज में शिक्षा का रूप मुख्यतया अनौपचारिक था। परिवार, खेल-समूह, जातीय समूह, प्रथाओं, परम्पराओं, रूढ़ियों, विश्वासों आदि के द्वारा शिक्षा प्रदान की जाती थी। परन्तु आधुनिक समय में शिक्षा प्रदान करने का कार्य विशिष्ट संस्थाओं; जैसे-विद्यालय, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय, औद्योगिक केन्द्रों तथा अन्य औपचारिक संगठनों के माध्यम से किया जाने लगा है।

प्रत्येक युग एवं काल में शिक्षा का स्वरूप समान नहीं रहा है। समय परिवर्तन के साथ-साथ विभिन्न समाजों

में शिक्षा के साधनों में भी परिवर्तन होता रहा है। लेकिन शिक्षा का उद्देश्य सदैव ज्ञान प्राप्त करना रहा है, चाहे वह ज्ञान किसी भी क्षेत्र से सम्बन्धित क्यों न हो। इस प्रकार शिक्षा से अभिप्राय केवल पुस्तकीय ज्ञान से नहीं होता है। इस सम्बन्ध में फिलिप्स का कथन उचित ही प्रतीत होता है कि, “शिक्षा वह संस्था है जिसका केन्द्रीय मूल्य ज्ञान की प्राप्ति है।

bdkÃ&3

f'k{kk] vFkZ ,oa ifjHkk"kk] lkekftd fu;=.k esa f'k{kk dh Hkwfedk

शिक्षा शब्द अंग्रेजी भाषा के शब्द “एजूकेशन’ (EDUCATION) का हिन्दी रूपान्तरण है। (EDUCA TION) शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के “एडूकेटम’ (EDUCATUM) शब्द से मानी जाती है। EDUCATUM शब्द ई (E) तथा ड्यूको (DUCO) दो शब्दों से मिलकर बना है। ई (E) का अर्थ है” अन्दर से’ और ड्यूको (DUCO) का अर्थ बढ़ाना या विकसित करना है। अतः” एड्यूको’ (EDUCO) का अर्थ अन्दर से आगे की ओर बढ़ाना या विकसित करना है। इस प्रकार शिक्षा का तात्पर्य बालक की अन्तर्निहित शक्तियों या गुणों का बाहर की ओर सर्वांगीण विकास करना है।

शिक्षा शब्द का प्रयोग संकुचित एवं व्यापक अर्थों में किया जाता है। संकुचित अर्थों में शिक्षा से तात्पर्य पुस्तकीय ज्ञान तथा विद्यालय में प्राप्त होने वाली शिक्षा से है। व्यापक अर्थों में शिक्षा एक ऐसा ज्ञान का भण्डार है; जिसे व्यक्ति जीवन पर्यन्त अपने अनुभवों से भरता है। इस ज्ञान के आधार पर व्यक्ति अपनी शक्ति का सम्पूर्ण विकास करता है, जिससे उसका बहुमुखी विकास हो सके। शिक्षा आजीवन चलने वाली प्रक्रिया है। व्यक्ति अपने जीवन में निरन्तर कुछ न कुछ सीखता ही रहता है। शिक्षा से सम्बन्धित प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं-

1. ब्राउन और रासेक का कथन है, “शिक्षा अनुभव का वह सम्पूर्ण योग है, जो अभिवृत्तियों को मोड़ता है और बालक और वयस्क दोनों के व्यवहार को निर्धारित करता है।’

   ब्राउन और रासेक ने शिक्षा के अन्तर्गत उन सभी अनुभवों को सम्मिलित किया है; जिनसे अभिव्यक्तियों का निर्माण होता है। एक परिस्थिति व्यक्ति, वस्तु या समूह के विषय में सोचने व अनुभव करने तथा उसके प्रति एक विशेष ढंग से कार्य करने की तत्परता की स्थिति को अभिवृत्ति कहते हैं। शिक्षा द्वारा इन अभिवृत्तियों में परिवर्तन होता रहता है। इस प्रकार शिक्षा अभिवृत्तियों का निर्माण करके बालक तथा वयस्क के व्यवहारों को निर्धारित एवं नियन्त्रित करती है।

2. टी. रेमण्ट के अनुसार, “शिक्षा को विकास की उस प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिसमें मानव अपने बचपन से प्रौढ़ावस्था तक अनेक तरीकों से अपने भौतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक पर्यावरण से अनुकूलन करना सीखता है।”

   रेमण्ट ने शिक्षा को मानव विकास की एक प्रक्रिया माना है। इस प्रक्रिया में व्यक्ति अपने बचपन से प्रौढ़ावस्था तक अनेक विधियों के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करता है जिससे वह सभी प्रकार के पर्यावरण के साथ अनुकूलन कर सके। प्रत्येक समाज का एक पर्यावरण होता है, जिसमें विशेष प्रकार की भौगोलिक परिस्थितियाँ पायी जाती हैं। इसी प्रकार प्रत्येक समाज में जनरीतियाँ, प्रथाएँ, रूढ़ियाँ, मान्यताएँ, सामाजिक विश्वास, आदर्श आदि होते हैं, जो सामाजिक पर्यावरण का निर्माण करते हैं। प्रत्येक समाज में एक अलौकिक शक्ति में विश्वास पाया जाता है, जिसके साथ कुछ विश्वास और क्रियाएँ जुड़ जाती हैं। शिक्षा व्यक्ति को इस योग्य बना देती है कि वह अपने भौतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक पर्यावरण से अनुकूलन कर सके।

NOTES

3. जे. एम. मैकेन्ज़ी के शब्दों में, "व्यापक अर्थ में शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है, जो जीवनभर चलती है और जीवन के प्रत्येक अनुभव से उसके भण्डार में वृद्धि होती है। शिक्षा को जीवन का प्रमुख उद्देश्य भी कहा जा सकता है।"

   मैकेन्जी ने शिक्षा को एक प्रक्रिया के रूप में माना है; प्रक्रिया से तात्पर्य उस क्रिया से है, जिसमें निरन्तरता पाई जाती है। मानव के अपने सम्पूर्ण जीवन में शिक्षा की प्रक्रिया चलती रहती है। इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति अन्तिम समय तक पर्यावरण से कुछ न कुछ सीखता रहता है तथा अनुभवों को प्राप्त करता है। उसके पास प्रत्येक क्षेत्र से सम्बन्धित अनुभवों का एक विशाल भण्डार होता है। इस प्रकार अधिक से अधिक अनुभवों को प्राप्त करना; जीवन का प्रमुख उद्देश्य भी माना जा सकता है।

4. डम्बिल के मतानुसार, "शिक्षा के व्यापक अर्थ के अन्तर्गत वे समस्त प्रभाव आते हैं, जो व्यक्ति पर उसके जन्म से मृत्यु तक की यात्रा के बीच में पड़ते हैं।'

   डम्बिल ने व्यापक दृष्टिकोण लेते हुए शिक्षा की अत्यन्त संक्षिप्त परन्तु महत्त्वपूर्ण परिभाषा प्रस्तुत की है। शिक्षा के अन्तर्गत उन सभी प्रभावों को सम्मिलित किया जाता है जो जीवनपर्यन्त व्यक्ति पर प्रभाव डालते हैं। इन प्रभावों के कारण व्यक्ति का समाजीकरण होता है, उसके व्यक्तित्व का विकास होता है तथा नई परिस्थितियों से अनुकूलन की क्षमता में वृद्धि होती है। इन प्रभावों से व्यक्तियों को अपने अधिकार और कर्तव्यों का ज्ञान होता है।

सामाजिक नियन्त्रण में शिक्षा की भूमिका या महत्त्व
(Role of Importance of Education in Social Control)

सभ्य समाजों में सामाजिक नियन्त्रण बनाए रखने में शिक्षा को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। शिक्षा एक अभिकरण (Agency) और साधन (Means) दोनों ही रूपों में सामाजिक नियन्त्रण का कार्य करती है। शैक्षणिक संस्थाओं के रूप में शिक्षा का तात्पर्य अभिकरण से होता है; जबकि विषय-वस्तु के दृष्टिकोण से शिक्षा" साधन' के रूप में कार्य करती है। शिक्षा निम्नलिखित भूमिका के आधार पर सामाजिक नियन्त्रण का एक प्रभावशाली साधन बन जाती है-

1. व्यक्ति का समाजीकरण (Socialization of the Individual)-शिक्षा की सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका व्यक्ति का समाजीकरण करना है। जॉनसन ने समाजीकरण की परिभाषा करते हुए लिखा है, "समाजीकरण एक सीखना है जो सीखने वाले को सामाजिक कार्य करने योग्य बनाता है।' समाजीकरण की प्रक्रिया में पाशविक प्रवृत्तियाँ मानवीय प्रवृत्तियों में बदल जाती हैं तथा व्यक्ति का विकास सामाजिक प्राणी के रूप में सम्भव होता है। अध्यापक, सहपाठी तथा विद्यालय के नियम समाजीकरण में योगदान देते हैं। शिक्षा व्यक्ति को समाज के रीति-रिवाजों, प्रथाओं, मान्यताओं, मूल्यों, आदर्शों, प्रतिमानों, मानदण्डों, नियमों, कानूनों आदि का ज्ञान कराती है। एक शिक्षित व्यक्ति में कानूनों को समझने तथा पालन करने की योग्यता होती है। कानूनों का पालन करने से समाज में नियन्त्रण बना रहता है।

2. बौद्धिक शक्ति का विकास (Development of Wisdom) शिक्षा के द्वारा व्यक्ति की बौद्धिक शक्ति का विकास होता है। बौद्धिक विकास के कारण व्यक्ति में ज्ञान-शक्ति, विचार-शक्ति, तर्क-शक्ति, और स्मरण शक्ति में वृद्धि होती है। तर्क-शक्ति के आधार पर व्यक्ति सत्य और असत्य, अच्छा और बुरा, उचित और अनुचित में अन्तर करना सीख जाता है। शिक्षा द्वारा व्यक्ति में सद्गुणों

का विकास होता है। महात्मा गाँधी के शब्दों में, "शिक्षा से मेरा तात्पर्य बालक और व्यक्ति के शरीर, मस्तिष्क और आत्मा में अन्तर्निहित सर्वोत्तम शक्तियों के सर्वांगीण विकास से है।" शिक्षा द्वारा व्यक्ति एक चिन्तनशील प्राणी बनकर समाज विरोधी कार्यों से दूर रहता है तथा सामाजिक मान्यता प्राप्त व्यवहारों को अपनाता है।

3. नैतिक तथा आध्यात्मिक गुणों का विकास (Development of Moral and Religious Traits)-शिक्षा व्यक्ति में नैतिक तथा आध्यात्मिक गुणों का विकास करके सामाजिक नियन्त्रण में सहायक होती है। ड्रेवर के शब्दों में, "शिक्षा वह प्रक्रिया है, जिसमें और जिसके द्वारा बालकों के ज्ञान, चरित्र और व्यवहार को निर्मित एवं परिवर्तित किया जाता है।"सत्य, त्याग, परोपकार, सहिष्णुता, बन्धुत्व, सहानुभूति, प्रेम, दया, ईमानदारी, न्यायप्रिय, अनुशासन आदि गुणों के विकसित होने से व्यक्ति का चरित्र निर्माण होता है। अपने दायित्वों का निर्वाह करके व्यक्ति सामाजिक संगठन एवं व्यवस्था को बनाए रखने में सहायक होता है। लेकिन व्यक्ति में नैतिकता तथा आध्यात्मिकता पर आधारित हो। इस सम्बन्ध में महर्षि अरविन्द ने उचित ही कहा है, "जो शिक्षा ज्ञान प्राप्ति तक सीमित है, शिक्षा नहीं है। अच्छी शिक्षा मानव का आध्यात्मिक विकास करती है। व्यक्ति की आत्मा का परम सत्ता से सम्बन्ध कराती है।"

4. अनुकूलन की क्षमता का विकास (Development of the Capacity of Adaptation)-शिक्षा व्यक्ति में परिवर्तित तथा नवीन परिस्थितियों से अनुकूलन की क्षमता का विकास करती है। चार्ल्स डार्विन का सिद्धान्त" अस्तित्व के लिए संघर्ष तथा योग्यतम की विजय' (Struggle for Existence and Survival of the Fittest) सामाजिक जीवन पर पूर्णरूप से लागू होता है। अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए प्रत्येक व्यक्ति संघर्ष करता है। इस संघर्ष में केवल वही व्यक्ति जीवित रहते हैं, जो परिस्थितियों से अनुकूलन कर लेते हैं। इस सम्बन्ध में डेविडसन (Davidson) ने लिखा है, "शिक्षा द्वारा मनुष्य अपने अन्दर एक ऐसे संसार की रचना करता है, जो उसे बाह्य संसार के योग्य बनाता है।"सामाजिक अनुकूलन सामाजिक नियन्त्रण बनाए रखने में सहायक होता है।

5. आर्थिक जीवन में योगदान (Contribution in Economic Life)-रोटी, कपड़ा और मकान मानव की तीन मूलभूत आवश्यकताएँ हैं। शिक्षा व्यक्ति को जीविकोपार्जन के योग्य बनाकर उसकी मौलिक तथा आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। आधुनिक शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य जीविकोपार्जन की समस्या को हल करना है। शिक्षा व्यक्ति को विभिन्न विषयों तथा व्यवसायों का ज्ञान एवं प्रशिक्षण देकर आर्थिक संरक्षण प्रदान करती है। जब किसी व्यक्ति तथा उसके परिवार के सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति मान्य विधियों द्वारा सम्भव नहीं हो पाती है तो व्यक्ति असामाजिक कार्यों के द्वारा इन आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। शिक्षा जीविकोपार्जन की समस्या को हल करके सामाजिक नियन्त्रण में महत्त्वपूर्ण योगदान देती है।

6. सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना का विकास (Development of the Feeling of Social Responsibility) समाज में प्रत्येक व्यक्ति की एकाधिक स्थितियाँ तथा उनसे सम्बन्धित कार्य भी निश्चित होते हैं। व्यक्ति जब तक अपनी स्थितियों के अनुसार कार्यों को करता रहता है, तब तक समाज में संगठन बना रहता है। ऐसा न करने पर सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। शिक्षा व्यक्तियों में सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना का विकास करती है। इसी कारण व्यक्ति वैयक्तिक एवं सामाजिक उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिए सदैव जागरूक रहते हैं। अपने उत्तरदायित्वों को पूरा करते समय व्यक्ति सामाजिक नियमों के अनुसार व्यवहार करते हैं। इसके

परिणामस्वरूप समाज में नियन्त्रण की स्थिति स्वतः ही उत्पन्न हो जाती है।

7. संस्कृति का संचरण (Transmission of Culture)-शिक्षा के माध्यम से मानव-संस्कृति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती है। शिक्षा के द्वारा समाज के नवीन सदस्यों को जनरीतियों, प्रथाओं, परम्पराओं, मान्यताओं, विश्वासों, मूल्यों, आदर्शों का ज्ञान कराया जाता है।

   व्यक्ति इन सांस्कृतिक प्रतिमानों के अनुरूप आचरण करके सामाजिक व्यवस्था एवं नियन्त्रण को बनाए रखने में योगदान देता है। व्यक्ति सदैव इन प्रतिमानों के अनुरूप व्यवहार नहीं करता बल्कि अपनी बुद्धि और तर्क के आधार पर संस्कृति का मूल्यांकन करता है। संस्कृति के ऐसे अंग जो वर्तमान परिस्थितियों में अनुपयोगी सिद्ध होने लगे हैं, उनमें संशोधन एवं परिवर्तन की माँग शिक्षित व्यक्तियों द्वारा उठाई जाती है।

8. व्यक्तित्व विकास में योगदान (Contribution in the Development of Personality)-शिक्षा व्यक्ति के व्यक्तित्व का सन्तुलित विकास करती है। एन. एल. मन के शब्दों में, "व्यक्तित्व की परिभाषा एक व्यक्ति के ढाँचे, व्यवहार के तरीकों, रुचियों, मनोवृत्तियों, क्षमताओं, योग्यताओं और अभिरुचियों के सर्वाधिक विशिष्ट संगठन के रूप में की जा सकती है।"व्यक्तित्व के अन्तर्गत विभिन्न गुणों जैसे शारीरिक, मानसिक, नैतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक आदि का समावेश होता है। प्रत्येक व्यक्ति में कुछ जन्मजात विशेषताएँ होती हैं; जिनके कारण एक व्यक्ति दूसरे से भिन्न प्रतीत होता है। इन विशेषताओं का सर्वांगीण विकास शिक्षा के द्वारा ही सम्भव होता है। इसके अतिरिक्त शिक्षा व्यक्ति के सद्गुणों का विकास करती है। टी. पी. नन ने इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए लिखा है; "शिक्षा व्यक्ति का सर्वांगीण विकास है ताकि वह अपनी सर्वोत्तम क्षमता के अनुसार मानव जीवन को एक मौलिक योगदान कर सके।"

आधुनिक वैज्ञानिक युग में सामाजिक नियन्त्रण के क्षेत्र में शिक्षा एवं शिक्षण संस्थाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य व्यक्ति को सभ्य बनाना है। एक अशिक्षित एवं असभ्य व्यक्ति पशु के समान होता है। वास्तव में मनुष्य और पशु में सभ्यता का ही अन्तर होता है। शिक्षा जीवन के किसी पक्ष से सम्बन्धित न होकर सम्पूर्ण पक्षों से सम्बन्धित होती है। शिक्षा के द्वारा ही व्यक्ति विभिन्न परिस्थितियों से सामंजस्य करने की क्षमता का विकास करता है। शिक्षा सामाजिक नियमों तथा सामाजिक नियन्त्रण का ज्ञान कराती है। शिक्षा के महत्त्व के सम्बन्ध में लैण्डिस ने लिखा है कि, "चूँकि शिक्षा जीवन के प्रारम्भ से ही कार्य करना प्रारम्भ कर देती है और वे अभिवृत्तियों एवं मूल्यों पर प्रभाव डालती है, इस कारण यह अधिक सफल होती है।"

डॉ. एस. राधाकृष्णन का मत है कि, "शिक्षा को मनुष्य और समाज का निर्माण करना चाहिए।" इस कथन से स्पष्ट होता है कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तित्व के समुचित विकास के साथ-साथ संगठित समाज का निर्माण करना भी है। शिक्षा द्वारा सामाजिक नियमों एवं अधिनियमों का ज्ञान प्राप्त होता है, जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति इनके अनुरूप व्यवहार करना सीखता है। प्रत्येक शिक्षा प्रणाली अनेक आदर्शों पर आधारित होती है। इन आदर्शों का अनुकरण करने पर व्यक्ति का व्यवहार एवं क्रियाएँ नियन्त्रित रहती हैं। इस सम्बन्ध में वेलन्टाइन ने उचित ही लिखा है, "शिक्षा सामाजिक नियन्त्रण के अभिकर्ता के रूप में एक आदर्शवादी बहुउद्देशीय संयुक्त कार्यक्रम प्रस्तुत करता है।"

शिक्षा के स्वरूप या प्रकार (Forms or Types of Education)-शिक्षा के विभिन्न स्वरूप निम्नलिखित प्रकार हैं-

1. सामान्य तथा विशिष्ट शिक्षा (General and Specific Education)-जब किसी विद्यार्थी को शिक्षा देने का उद्देश्य सामान्य होता है अथवा जब उसे व्यावहारिक ज्ञान के विषय में शिक्षा दी जाती है तो वह सामान्य शिक्षा कहलाती है।

   इसके विपरीत जब किसी विद्यार्थी को किसी विशेष विषय की शिक्षा देकर उसे किसी विशेष कार्य या व्यवसाय के लिए तैयार किया जाता है, तो उसे विशिष्ट शिक्षा कहा जाता है।

2. प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष शिक्षा (Direct and Indirect Education) जब किसी विद्यार्थी पर अध्यापक के व्यक्तित्व का प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ता है तो उसको प्रत्यक्ष शिक्षा कहा जाता है। इसके विपरीत जब अध्यापक विद्यार्थी पर प्रभाव डालने के लिए अप्रत्यक्ष साधनों का सहारा लेता है तो उसे अप्रत्यक्ष शिक्षा कहा जाता है, जैसे-अध्यापक कहानियों, उदाहरणों व अन्य महान व्यक्तियों द्वारा किए गए कार्यों का उदाहरण दें तो वह अप्रत्यक्ष ज्ञान होगा।

3. औपचारिक तथा अनौपचारिक शिक्षा (Formal and Informal Education)-औपचारिक शिक्षा विधिवत् किसी कक्षा, स्कूल व कॉलेजों में विद्यार्थियों को प्रदान की जाती है। इस प्रकार की शिक्षा व्यक्ति समाज में रहकर ही प्राप्त करता है। यह शिक्षा व्यक्ति, अनुकरण और अनुभव के द्वारा प्राप्त करता है। औपचारिक शिक्षा एक बालक के उचित व स्वस्थ व्यक्तित्व के लिए अति आवश्यक है।

4. निश्चयात्मक तथा निषेधात्मक शिक्षा (Positive and Negative Education)-जब किसी शिक्षार्थी को किसी निश्चित उद्देश्य के अनुसार शिक्षा दी जाती है तो वह शिक्षा निश्चयात्मक शिक्षा के अन्तर्गत आती है और जब बिना किसी निश्चित उद्देश्य के शिक्षा प्रदान की जाती है तो यह निषेधात्मक शिक्षा के अन्तर्गत आती है।

bdkÃ&4 jktuhfr] jkT; dk ekfyr rRo] dk;] lkekftd fu;=.k e Hkfedk] tkfr vkj jktuhfr] nckodkjh leg

साधारण अवस्था में ''राज्य' का अर्थ ''शासन-व्यवस्था' (Administrative System) से लगाया जाता है। सामान्यतः सरकार, राष्ट्र, देश एवं प्रशासन के पर्यायवाची के रूप में राज्य शब्द का प्रयोग किया जाता है। वास्तव में राज्य एक ऐसा समुदाय है; जिसका एक निश्चित भू-भाग हो, जिसकी व्यवस्था एक संगठित शासन के अन्तर्गत होती हो एवं जो बाह्य नियन्त्रण से पूर्णतः मुक्त व स्वतन्त्र हो।

मैकाइवर (Maciver) के अनुसार, ''राज्य एक ऐसी समिति है, जो कानून और शासनाधिकार के द्वारा कार्य कराती है एवं जिसे एक निश्चित भू-भाग के अन्तर्गत सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने के सर्वोच्च अधिकार प्राप्त होते हैं।''

गिलिन एवं गिलिन के (Gillin and Gillin) अनुसार, ''राज्य मनुष्यों का ऐसा सम्प्रभुता सम्पन्न राजनैतिक संगठन है जो कि एक निश्चित भू-भाग में बसा हो।''

अरस्तु (Aristotle) के अनुसार, ''राज्य परिवारों तथा गाँवों का संघ है; जिसका लक्ष्य पूर्ण तथा आत्मनिर्भर जीवन की प्राप्ति है।

गार्नर (Garner) के अनुसार, ''राजनीतिशास्त्र और सार्वजनिक कानून की धारणा के सम्बन्ध में राज्य जो थोड़े या अधिक मनुष्यों का एक ऐसा समुदाय है जो सामान्यतः एक निश्चित भू-भाग पर रहता है, बाह्य

नियन्त्रण से मुक्त अथवा पूरी तरह स्वतन्त्र रहता है, जिसका अपना एक शासन तन्त्र होता है तथा स्वभाव से ही व्यक्तियों में इस शासन तन्त्र के प्रति आज्ञा पालन की भावना होती है।"

प्रो. हॉलैण्ड (Holland) के शब्दों में, "राज्य एक निश्चित भू-भाग पर बसे हुए अनेक मनुष्यों का एक ऐसा संगठन है, जिसमें बहुमत की अथवा व्यक्तियों के एक सुनिश्चित वर्ग की इच्छा, बहुमत की अथवा उस वर्ग की शक्ति से सम्पन्न होने के कारण उसके विरोधियों पर भी लागू होती हो।"

लास्की (Laski) के अनुसार, "राज्य एक क्षेत्रीय समाज है जो कि सरकारों और शासितों में विभाजित है और जो अपने निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में अन्य समस्त संस्थाओं पर सर्वोच्च सत्ता का दावा करता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर ज्ञात होता है कि राज्य वह समुदाय है; जिसका कि एक निश्चित भू-भाग हो और साथ ही, उसकी एक ऐसी प्रभुता सम्पन्न सरकार गठित हो जो कि बाह्य नियन्त्रण से स्वतन्त्र हो।

राज्य के मौलिक तत्त्व (Basic Elements of State)

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर राज्य के चार मौलिक तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं; जो इस प्रकार

1. जनसंख्या (Population)
2. निश्चित भू-भाग (Definite Territory)
3. शासन या सरकार (Government)
4. सम्प्रभुता (Sovereignity)

1. जनसंख्या (Population)-राज्य का सर्वप्रथम मौलिक तत्त्व उसकी जनसंख्या है। जनसंख्या के अभाव में किसी भी राज्य की कल्पना करना मूर्खता ही होगी। किसी भी राज्य के लिए उसकी जनसंख्या कितनी होनी चाहिए, इस बात पर विद्वानों में मतभेद है। प्लेटो ने एक आदर्श राज्य के लिए 5,040 जनसंख्या की कल्पना की है। अरस्तू का कहना है कि किसी भी राज्य की जनसंख्या उतनी ही होनी चाहिए जिससे कि उसकी शासन व्यवस्था सुचारु रूप से चल सके। इसके अतिरिक्त रूसो राज्य की जनसंख्या 10,000 मानते हैं। वास्तव में किसी भी राज्य की जनसंख्या को हम निश्चिततापूर्वक नहीं बता सकते हैं; फिर भी जनसंख्या उतनी ही होनी चाहिए, जिससे कि लोगों का भरण-पोषण ठीक प्रकार से हो सके।

2. निश्चित भू-भाग (Definite Territory)-किसी भी राज्य की जनसंख्या के निवास के लिए एक निश्चित भू-भाग की प्राकृतिक तथा राजनैतिक सीमा होती है; इसी सीमा के आधार पर एक राज्य को दूसरे राज्य से अलग करते हैं। वर्तमान समय में केवल भू-भाग को ही नहीं वरन् समुद्र व आकाश की सीमा भी अलग-अलग होती है। किसी भी राज्य के कार्य केवल उसी की सीमा तक ही सीमित होते हैं।

3. शासन या सरकार (Government)-प्रत्येक राज्य में शासन व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए उसकी एक सरकार होती है। इसके द्वारा ही सरकार अपनी शक्ति आदि को सुचारु रूप से कार्यान्वित करती है और जनता पर शासन करती है। यह सरकार प्रजातन्त्रात्मक, निरंकुश, अध्यक्षात्मक, संसदीय एंव कुलीन-तन्त्रात्मक आदि किसी भी प्रकार की हो सकती है। श्री गार्नर (Garner) ने सरकार की आवश्यकता को बताते हुए कहा है "सरकार के अभाव में जनता एक असंगठित तथा अनियन्त्रित जन-समूह मात्र होती है, जिनके पास सामूहिक रूप से कोई कार्य करने

के साधन नहीं होते हैं।

4. सम्प्रभुता (Sovereignity)-सम्प्रभुता से तात्पर्य है कि राज्य अपने आन्तरिक और बाह्य क्षेत्र में स्वतन्त्र होता है। राज्य पर किसी बाह्य शक्ति द्वारा दबाव नहीं होता है। वह प्रत्येक निर्णय स्वेच्छा से लेता है। सम्प्रभुता के कारण ही राज्य किसी संघ या संस्था के अधीन नहीं होता है, जबकि अन्य संघ व समितियाँ राज्य के अधीन होती हैं।

राज्य के कार्य (Functions of State)

प्राचीन समय में राज्य के कार्य बहुत सीमित थे, लेकिन जैसे-जैसे समाज में जटिलता बढती गई; राज्य की शक्ति और कार्य-क्षेत्र में भी वृद्धि होती गई। प्राचीनकाल में आन्तरिक शक्ति एवं बाह्य आक्रमण से रक्षा करना ही राज्य के मौलिक कार्य थे, लेकिन जैसे-जैसे औद्योगीकरण होता गया, समाज का कोई भी पक्ष ऐसा नहीं बचा जो राज्य के अधिकार क्षेत्र में न हो। आधुनिक औद्योगिक व जटिल समाज में राज्य के कार्यो को मैकाइवर एवं पेज ने चार भागों में बाँटा है-

1. वे कार्य जिन्हें राज्य ही कर सकता है (Function Peculiar to the State)-कुछ कार्य ऐसे हैं; जिन्हें केवल राज्य ही कर सकता है। इन कार्यों में समुदाय में शान्ति तथा सुव्यवस्था की स्थापना प्रमुख है। राज्य को छोड़कर अन्य किसी भी समिति के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह आज के जटिल समाज में शान्ति एवं सुव्यवस्था कायम रख सके। यह कार्य केवल राज्य ही इसलिए कर सकता है क्योंकि राज्य के पास ही कानून बनाने व उन्हें लागू करने की शक्ति है। केवल राज्य ही नागरिकों के अधिकारों तथा कर्तव्यों को निर्धारित कर सकता है। वह समुदाय के सभी लोगों के लिए समान रूप से सभी सुविधाओं के वितरण का आश्वासन दे सकता है। राज्य ही नागरिकों के लिए माप-तौल, मूल्य, मुद्रा, न्याय एवं सुन्दर जीवन के स्तर निश्चित कर सकता है। वही बाह्य आक्रमण से रक्षा कर सकता है। वह लोगों की सम्पत्ति व हितों की रक्षा कर सकता है।

2. वे कार्य जिन्हें राज्य दूसरों की अपेक्षा अच्छी तरह से कर सकता है (Functions for which the State is well Adopted)-राज्य के पास अन्य समितियों की अपेक्षा अधिक साधन हैं। यही कारण है कि अन्य समितियों की अपेक्षा राज्य कुछ कार्यो को अधिक कुशलतापूर्वक कर सकता है। ये कार्य हैं-प्राकृतिक साधनों की व्यवस्था, राष्ट्रीय सम्पत्ति का समान वितरण, वनों व वनों के जीवों की रक्षा, आर्थिक साधनों की रक्षा, खनिज पदार्थों व तेल संसाधनों की रक्षा, निजी एकाधि कार को रोकना, औद्योगिक संरक्षण देना, उचित मजदूरी तय करना, शिक्षा की उचित व्यवस्था करना, सार्वजनिक पार्क-अस्पताल, गरीबों-अपाहिजों आदि की सुरक्षा, बीमा की व्यवस्था करना आदि सामाजिक नीति के अध्ययन व समाज की अन्य संस्थाएँ व समितियाँ भी इन कार्यो को कर सकती हैं। लेकिन राज्य इन्हें अधिक कुशलतापूर्वक और प्रभावशाली ढंग से कर सकता है।

3. वे कार्य जिनके लिए राज्य अनुपयुक्त है (Function for which the State is ill Adopted) कुछ कार्य ऐसे भी हैं जिन्हें राज्य अन्य संगठनों की अपेक्षा ठीक प्रकार से नहीं कर पाता है। राज्य में छोटे-बड़े कई समूह होते हैं, जिनके अपने धार्मिक व सांस्कृतिक स्वार्थ एवं उद्देश्य होते हैं। राज्य का सम्बन्ध सभी समूहों से होता है। अतः वह किसी एक विशेष समूह के हितों पर ध्यान नहीं दे पाता है। ये कार्य स्वयं समूह ही अधिक अच्छी प्रकार से कर सकते हैं। चर्च, क्लब, मन्दिर, सिनेमा आदि के द्वारा व्यक्तिगत एवं छोटे समूहों से सम्बन्धित हितों की पूर्ति अधिक अच्छी प्रकार से हो जाती है।

4. वे कार्य जिन्हें सम्पन्न करने में राज्य असमर्थ होता है (Functions which the State is

Incapable of Performing) राज्य के नागरिकों के जीवन से सम्बन्धित कुछ ऐसे भी कार्य होते हैं; जिन्हें कि राज्य कदापि नहीं कर सकता; जैसे-राज्य जनमत पर नियंत्रण नहीं रख सकता। यह तो हो सकता है कि विरोधी समूह को कुछ समय के लिए दबा दें किन्तु उनके विश्वासों का दमन नहीं कर सकता है। उसी प्रकार से राज्य जनता की नैतिकता पर भी नियंत्रण नहीं कर सकता। यद्यपि वह आचरण के बाह्य पक्षों पर नियंत्रण रख सकता है किन्तु लोगों की मनोवृत्तियों, विचारों व विश्वासों का दमन नहीं कर सकता। इतिहास इस बात का गवाह है कि जब कभी राज्य ने ध र्म व नैतिकता पर नियंत्रण खोया तो वह असफल ही रहा है।

सामाजिक नियंत्रण में राज्य की भूमिका (Role of State in Social Control)

राज्य सामाजिक नियंत्रण का एक महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली अभिकरण है। पुलिस, कानून, न्यायालय व जेल द्वारा वह अपने क्षेत्र में सामाजिक नियंत्रण बनाए रखता है। वह समाज विरोधी तत्त्वों पर अंकुश लगाता है। वह विरोधियों को दण्ड देता है। राज्य, सुधार गृहों की स्थापना करता है; जिनमें बाल अपराधियों व अपराधियों को सुधार कर एक सभ्य नागरिक बनाया जाता है।

फेयरचाइल्ड (Fairchild) के अनुसार, "राज्य समाज की वह संस्था है जो शक्ति का उपयोग करने एवं दमनकारी नियंत्रण को लागू करने का अधिकार रखती है। इस शक्ति का उपयोग वह सदस्यों पर नियंत्रण रखने अथवा किसी अन्य समाज के विरुद्ध कर सकता है।"

सामाजिक नियंत्रण के क्षेत्र में राज्य अपनी भूमिका अनेक प्रकार से निभाता है। इसे हम निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट कर सकते हैं-

1. मौलिक अधिकारों का संरक्षण प्रत्येक राज्य अपने सदस्यों को कुछ मौलिक अधिकार प्रदान करता है। इन अधिकारों की रक्षा करना राज्य का मौलिक कर्तव्य व दायित्व है। ये अधिकार ऐसे हैं जो बिना किसी भेदभाव के राज्य के सभी नागरिकों को प्रदान किए जाते हैं। भारत के संविध न में नागरिकों के मौलिक अधिकारों का वर्णन किया गया है। वे हैं-समानता का अधिकार, स्वतन्त्रता का अधिकार, शोषण से मुक्ति का अधिकार, न्याय प्राप्त करने का अधिकार, धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्वतन्त्रता का अधिकार, भाषण का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार आदि। राज्य का महत्त्व इन मौलिक अधिकारों को प्रदान करने की अपेक्षा इनकी रक्षा करने के लिए अधिक क्योंकि बिना रक्षा किये इन मौलिक अधिकारों का कोई महत्त्व नहीं रह जाता है। राज्य प्रत्येक व्यक्ति को उसके मौलिक अधिकार प्रदान करके नियंत्रण को बनाए रखता है।

2. प्रत्यक्ष कार्यों द्वारा नियंत्रण कुछ कार्य ऐसे हैं जो प्रत्यक्ष रूप से राज्य के द्वारा किए जाते हैं; उदाहरणार्थ-राज्य खनिज व यातायात की व्यवस्था करता है, अनेक उद्योगों की स्थापना करता है और उन्हें चलाता है। श्रमिकों को शोषण से बचाता है। राज्य उद्योग, व्यापार एवं शिक्षा आदि कार्यों द्वारा समाज में प्रत्यक्षतः नियंत्रण बनाए रखता है।

3. कल्याणकारी व्यवस्थाओं का निर्माण-आज के समय में राज्य आन्तरिक व्यवस्था व शांति तथा बाह्य आक्रमण से रक्षा के साथ-साथ अपने नागरिकों के लिए जनहित एवं कल्याण के कार्य भी करता है। राज्य अपंग, गरीब, बीमार व वृद्ध, बच्चों की सहायता का प्रबन्ध करता है। वर्तमान में राज्य ने मजदूरों के कार्य करने के समय, आयु, बोनस, आवास, शिक्षा, अवकाश, स्वास्थ्य एवं चिकित्सा आदि से सम्बन्धित समस्याओं के समाधान के लिए अनेकों कल्याणकारी प्रावधानों की

व्यवस्था की है। इस प्रकार राज्य सभी वर्गों के हितों की रक्षा करके समाज में नियंत्रण को बनाए रखता है।

4. कानून व्यवस्था बनाए रखना कानून राज्य की औपचारिक नियंत्रण शक्ति है। विभिन्न कानून बनाकर राज्य नागरिकों के व्यवहारों पर नियंत्रण रखता है और उनमें एकरूपता लाने का प्रयास करता है। समाज में कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो अपने उद्देश्यों की पूर्ति शीघ्र एवं सर्वाधिक रूप से करना चाहते हैं। इसके लिए वह समाज विरोधी कार्यों को अपनाने से भी नहीं हिचकते हैं। तब कानून के माध्यम से ही इनकी गतिविधियों को नियंत्रित किया जाता है। यदि कानून नहीं होगा तो समाज में" जिसकी लाठी उसी की भैंस" वाली कहावत चरितार्थ हो जाएगी। राज्य के कानून इसलिए भी अधिक कारगर सिद्ध होते हैं क्योंकि उनके पीछे सम्पूर्ण राज्य की शक्ति होती है-पुलिस, न्यायालय, जेल एवं सेना की शक्ति का भय होता है। समाज विरोधी तत्त्वों व अपराधियों को राज्य व कानून दण्डित करता है। इस प्रकार राज्य कानून के माध्यम से भी सामाजिक नियंत्रण करता है।

5. दण्ड के द्वारा नियंत्रण राज्य केवल कानून ही नहीं बनाता वरन् उसे यथोचित ढंग से लागू भी करता है। राज्य उन व्यक्तियों को दण्डित करता है जो कानून को तोड़कर अपनी मनमानी करते हैं। राज्य का उद्देश्य होता है कि दोषी व्यक्ति बच न सके व निर्दोष फँस न सके। इसलिए वादी व प्रतिवादी की सुनवाई करने के पश्चात् ही दोषी को दण्डित किया जाता है। दण्ड कई प्रकार के होते हैं-जेल में रखना, देश निकाला, फाँसी, शारीरिक कष्ट व आर्थिक जुर्माना आदि। इस प्रकार राज्य अपराधियों को दण्डित करके समाज में कानून व व्यवस्था को बनाए रखता है।

6. पारिवारिक नियंत्रण-परिवार समाजिक नियंत्रण का एक प्रमुख साधन है किन्तु इसका कार्य क्षेत्र सीमित है। आधुनिक समय में राज्य ने परिवार व विवाह से सम्बन्धित अधिनियम बनाकर परिवार को नियंत्रित किया है। परिवार समाज की मौलिक इकाई है। यदि परिवार विघटित होता है तो उसका प्रभाव समाज पर भी पड़ता है। इसी कारण से परिवार के आकार, पारिवारिक सम्पत्ति में अधिकार एवं विवाह से सम्बन्धित अधिनियम बनाकर राज्य परिवार पर नियंत्रण बनाए रखता है। भारत में सरकार ने अनेक अधिनियम बनाए हैं जैसे-1929 में बाल-विवाह निरोधक अधिनियम, 1956 में विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1955 में हिन्दू विवाह अधिनियम, 1956 में हिन्दू उत्तराधिकार अधि नियम, 1961 में दहेज निरोधक अधिनियम आदि।

7. आन्तरिक सुव्यवस्था एवं शांति-राज्य समाज में आन्तरिक व्यवस्था एवं शांति बनाए रखता है। वह उपद्रवों का दमन करता है, अपराधियों को दण्ड देता है एवं उनका सुधार करता है। समाज में विभिन्न संप्रदाय के लोग रहते हैं जिनके हित एवं उद्देश्य कई बार विरोधी होते हैं। राज्य इन सभी लोगों के मध्य होने वाले संघर्षों को रोकता है। वह नागरिकों के जान व माल की रक्षा करता असंतुष्ट लोगों के द्वारा घेराव, हड़ताल, आगजनी एवं तोड़फोड की घटनाओं पर नियंत्रण करने का कार्य भी राज्य ही करता है।

8. शिक्षा के प्रसार द्वारा नियंत्रण सेना व पुलिस की भाँति शिक्षा में भी वह शक्ति है जो सामाजिक जीवन को सुसंगठित एवं नियंत्रण में रखती है। शिक्षा के माध्यम से ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है। वह सत्य और असत्य एवं उचित-अनुचित में भेद करना सीख जाता है। शिक्षा व्यक्ति में अच्छे गुणों का विकास करती है और उसको उदारवादी बनाती है। शिक्षा ही व्यक्ति को सामाजिक जीवन के महत्त्व का ज्ञान कराती है एवं तर्क शक्ति प्रदान करती है। इस प्रकार एक शिक्षित व्यक्ति आत्म-नियंत्रण बनाए रखता है; जिससे कि समाज में नियंत्रण व्यवस्था सुचारु रूप से चलती रहती है।

9. अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के नियमन द्वारा नियंत्रण-राज्य केवल अपने भौगोलिक क्षेत्र में ही नियंत्रण की व्यवस्था को लागू नहीं करता वरन् वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों एवं सम्बन्धों को भी नियंत्रित करता है। आज हमारा जीवन अपने देश से भी बाहर निकलकर विश्व समुदायों में फैल गया है। आज हमारे रिश्तेदार विदेशों में जाकर बस सकते हैं। हमारा व्यापारिक लेन-देन विदेशों के साथ हो सकता है, हम घूमने के लिए अथवा अपने व्यापारिक कारणों से विदेशों में जा सकते हैं। इन सभी कार्यों में हमारे व्यवहारों पर नियंत्रण राज्य के ही द्वारा किया जाता है। विदेश जाने के लिए पासपोर्ट तैयार करना, आयात-निर्यात करने सम्बन्धी कार्यक्रमों को स्वीकृति प्रदान आदि राज्य के कार्य क्षेत्र के अन्तर्गत ही आते हैं। इसके अतिरिक्त राज्य दूसरे देशों से आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित करता है, सैनिक समझौते व संधियाँ करता है, यातायात, डाकतार, उद्योग, संचार व अस्त्र-शस्त्र खरीदने व बेचने के सम्बन्ध में अपने निर्णय लेता है व इन पर अपना नियंत्रण रखता है।

10. बाह्य आक्रमण से सुरक्षा राज्य अपने नागरिकों की बाह्य आक्रमणों से रक्षा करता है व नियंत्रण व्यवस्था को बनाए रखता है। बाह्य आक्रमण से रक्षा करने का कार्य केवल राज्य ही कर सकता है क्योंकि राज्य के पास ही सेना की शक्ति होती है। अगर राज्य इन बाह्य आक्रमणों से रक्षा नहीं करेगा तो समाज में अव्यवस्था फैल जाएगी। इस प्रकार बाह्य आक्रमणों से रक्षा करके एवं सुरक्षा प्रदान कर राज्य अपने नागरिकों का मनोबल ऊँचा उठाए रखता है और नियंत्रण बनाए रखता है।

11. आर्थिक व्यवस्था पर नियंत्रण-आर्थिक आवश्यकताएँ मनुष्य की मौलिक आवश्यकताएँ हैं। यदि इन आवश्यकताओं की पूर्ति सही ढंग से नहीं होती है तो समाज में विद्रोह का डर बना रहता है। अतः राज्य का यह कर्तव्य है कि वह अपने नागरिकों को भोजन, वस्त्र तथा निवास आदि की समुचित व्यवस्था करे। अतः प्रत्येक राज्य उत्पादन, उपयोग, वितरण, विनिमय, कर, आयात-निर्यात, उद्योग व व्यवसाय आदि से सम्बन्धित अपनी नीति तय करता है, कानून बनाता है और सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को नियंत्रित करता है। आर्थिक विकास के लिए राज्य विकास की योजनाएँ बनाता है और उन्हें क्रियान्वित करवाता है। राज्य अनेक प्रकार के श्रम अधिनियम बनाकर मिल मालिकों और श्रमिकों के मध्य मधुर सम्बन्धों को बनाने का प्रयास करता है। श्रमिकों के पारिश्रमिक को निश्चित करता है। अतः राज्य, समाज में आर्थिक क्रियाओं का नियमन करके भी नियंत्रण बनाए रखता है।

जाति और राजनीति (Caste and Politics)

परम्परावादी भारतीय समाज में आधुनिक राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना भारतीय राजनीति की एक अद्भुत विशेषता है। भारत में राजनीतिक आधुनिकीकरण के प्रारम्भ होने के पश्चात यह धारणा विकसित कि पश्चिमी ढंग की राजनीतिक संस्थाएँ और लोकतंत्रात्मक मूल्यों को अपनाने के फलस्वरूप परम्परागत संस्था-जातिवाद का अन्त हो जाएगा, किन्तु स्वाधीनता के बाद की भारत की राजनीति में जाति का प्रभाव अनवरत् रूप से बढ़ता गया। जहाँ सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में जाति की शक्ति घटी है; वहाँ राजनीति और प्रशासन पर इसके बढ़ते हुए प्रभाव को राजनीतिज्ञों, समाज शास्त्रियों, प्रशासनाधिकारियों और केन्द्र एवं राज्य सरकारों ने स्वीकार किया है।

कतिपय विद्वानों की यह मान्यता है कि लोकतांत्रिक एवं प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं की स्थापना के बाद जाति व्यवस्था का भारत से लोप हो जाना चाहिए। अन्य कुछ विद्वानों की धारणा थी कि जाति व्यवस्था परम्परागत शक्ति के रूप में कार्य करती है तथा राजनीतिक विकास एवं आधुनिकीकरण के मार्ग में बाधक है। लेकिन वस्तुतः ये मान्यताएँ सही नहीं हैं। इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि प्रथम, कोई भी

सामाजिक तन्त्र पूर्णतया समाप्त नहीं हो सकता, अतः यह प्रश्न करना कि क्या भारत में जाति का लोप हो रहा है, अर्थ-शून्य है। द्वितीय, जाति व्यवस्था आधुनिकीकरण और सामाजिक परिवर्तन में रुकावट नहीं डालती बल्कि इसको बढ़ाने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। स्थानीय और राज्य स्तर की राजनीति में जातीय संघ और समुदाय निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करने में उसी प्रकार की भूमिका अदा करते हैं जिस प्रकार पश्चिमी देशों में दबाव गुट (Pressure Groups) i हमारे राजनीतिज्ञ एक सजीव असमंजस की स्थिति में है। यहाँ एक ओर वे जातिगत भेदभाव मिटाने की बात करते हैं; वहीं दूसरी ओर जाति के आधार पर वोट बटोरने की कला में निपुणता हासिल करना चाहते हैं।

जाति का परम्परागत अर्थ एवं रूप (Traditional Meaning and Nature of Caste)-जाति प्रथा किसी न किसी रूप में संसार के हर कोने में पाई जाती है, पर एक गम्भीर सामाजिक कुरीति के रूप में यह हिन्दू समाज की ही विशेषता है। वैसे इस्लाम और ईसाई समाज भी इसके प्रभाव से अछूते नहीं रह सके। यह एक अतिप्राचीन व्यवस्था रही है। इसका अभिप्राय पेशे के आधार पर समाज को कई वर्गों में बाँट देना है। सामान्यतया यह माना जाता है कि जाति प्रथा की उत्पत्ति वैदिककाल में हुई। ब्राह्मण धार्मिक और वैदिक कार्यों का सम्पादन करते थे। क्षत्रियों का कार्य देश की रक्षा करना और शासन प्रबन्ध करना था। वैश्य कृषि और वाणिज्य संभालते थे तथा शूद्रों को अन्य तीन वर्णों की चाकरी करनी पड़ती थी। शुरू-शुरू में जाति-प्रथा के बन्धन कठोर न थे और वह जन्म पर नहीं, अपितु कर्म पर आधारित थे। बाद में जाति-प्रथा में कठोरता आती गयी, वह पूरी तरह जन्म पर आधारित हो गयी तथा एक जाति से दूसरी जाति में अन्तःक्रिया असम्भव हो गई। अपने मौलिक रूप में जाति प्रथा उपयोगी थी। चूँकि वह श्रम-विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित थी, अतः उनके आर्थिक क्षेत्र में निपुणता के तत्त्व का समावेश किया। एक जाति का पेशा उसी जाति में होता था। बेटा, बाप से अपना पुश्तैनी पेशा सीखता था और प्रायः उसी को अपनी आजीविका के साधन के रूप में अपना लेता था। इस प्रथा ने एक जाति और बिरादरी के लोगों में भाई-चारे की भावना को बढ़ाया। एक जाति के लोग एक-दूसरे से भली-भाँति परिचित होते थे तथा एक-दूसरे के सुख-दुःख में काम आते थे।

प्रो. घुरिये (Ghurye) ने सामाजिक व्यवस्था की छ: विशेषता बताई हैं, जो इस प्रकार है-

i. भारत में जाति ऐसे समुदाय हैं जिनका अपना विकसित जीवन है और इनकी सदस्यता जन्म से ही निश्चित होती है।
ii. भारत का प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामाजिक स्थिति जानता है और जातियों के पदसोपान में ब्राह्मण सबसे ऊपर माना जाता है।
iii. जातियों के आधार पर खान-पान और सामाजिक आदान-प्रदान के प्रतिबन्ध लगे रहते हैं।
iv. गाँवों तथा शहरों में जाति के आधार पर पृथकता बनी रहती है।
v. कुछ जातियाँ कतिपय विशेष प्रकार के व्यवसायों को अपना पुश्तैनी अधिकार समझती हैं।
vi. जातियों की परिधि में ही वैवाहिक आदान-प्रदान होता है और जातियाँ कई उप-जातियों में विभक्त होती हैं। उप-जातियों में भी वैवाहिक सीमाएँ हैं।

जाति का राजनीतिक रूप : रजनी कोठारी का दृष्टिकोण (Political Dimension of Caste : Rajni Kothari's Approach) :

प्रो. रजनी कोठारी ने अपनी पुस्तक "कास्ट इन इण्डियन पॉलिटिक्स' 'Caste in Indian Politics' में

भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका का विस्तृत विश्लेषण किया है। उनका मत है कि अक्सर यह प्रश्न पूछा जाता है कि क्या भारत में जाति-प्रथा खत्म हो रही है? इस प्रश्न के पीछे यह धारणा है कि मानव जाति और राजनीति परस्पर विरोधी संस्थाएँ हैं। ज्यादा सही सवाल यह होगा कि जाति प्रथा पर राजनीति का क्या प्रभाव पड़ रहा है और जाति-जाति वाले समाज में राजनीति क्या स्वरूप ले रही है?

जो लोग राजनीति में जातिवाद की शिकायत करते हैं, वे ना तो राजनीति के स्वरूप को ठीक से समझ जाते हैं और न जाति के स्वरूप को। भारत की जनता जातियों के आधार पर संगठित है। अतः न चाहते हुए भी राजनीति को जातिगत संस्था का उपयोग करना ही पड़ेगा। अतः राजनीति में जातिवाद का अर्थ जाति का राजनीतिकरण है। रजनी कोठारी के शब्दों में, "जाति को अपने दायरे में खींच कर राजनीति उसे अपने काम में लाने का प्रयत्न करती है। दूसरी ओर राजनीति द्वारा जाति या बिरादरी को देश की राजनीतिक व्यवस्था में भाग लेने का मौका मिलता है।" राजनीतिक नेता सत्ता प्राप्त करने के लिए जातीय संगठनों का उपयोग करते हैं और जाति के रूप में उनको बना-बनाया संगठन मिल जाता है; जिससे राजनीतिक संगठन में आसानी होती है।

जाति व्यवस्था और राजनीति में अन्तःक्रिया के सन्दर्भ में प्रो. रजनी कोठारी ने जाति-प्रथा के तीन रूप प्रस्तुत किए हैं-1. लौकिक रूप (The secular aspect) 2. एकीकरण का रूप (The integration aspect) 3. चैतन्य रूप (The aspect of consciousness)

1. जाति व्यवस्था का लौकिक रूप-रजनी कोठारी ने जाति व्यवस्था के लौकिक रूप को व्यापक दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया है। जाति व्यवस्था की कुछ बातों पर सबका ध्यान गया है; जैसे जाति के अन्दर विवाह, छुआछूत और रीति-रिवाजों के द्वारा जाति की प्रथम इकाई को कायम रखने का प्रयत्न। लेकिन इस बात की ओर बहुत ही कम लोगों का ध्यान गया है कि जातियों में अपनी प्रतिद्वन्द्विता एवं गुटबन्दी रहती है, प्रत्येक जाति प्रतिष्ठा और सत्ता की प्राप्ति के लिए संघर्षरत रहती है। जाति-व्यवस्था के इस लौकिक पक्ष के दो रूप थे-एक शासकीय रूप यानि जाति की और गाँव की पंचायत और चौधराहट; दूसरा रूप राजनीतिक था यानि जाति की आन्तरिक गुटबन्दी और अन्य जातियों से गठजोड़ और प्रतिद्वन्द्वता। पहले इन जातियों का सम्बन्ध जाति या गाँव की पंचायत और राजा या जमींदार से रहता था। अब जाति पंचायत के स्थान पर विधान सभाएँ और संसद है तथा राजा के स्थान पर राष्ट्रीय सरकार है।

2. जाति व्यवस्था का एकीकरण रूप जाति का दूसरा रूप एकीकरण का है अर्थात् व्यक्ति को समाज से बाँधने का है। जाति प्रथा जन्म के साथ ही प्रत्येक व्यक्ति का समाज में स्थान नियत कर देती है। जाति के आधार पर ही उस व्यक्ति का व्यवसाय और आर्थिक भूमिका निश्चित हो जाती है। चाहे जितना भी बड़ा व्यक्ति क्यों न हो, उसका अपनी जाति से लगाव पैदा हो जाता है, जाति के प्रति निष्ठाओं और लोकतन्त्र और राजनीतिक व्यवस्था के प्रति विकसित हो जाती है इस प्रकार जातियाँ जोड़ने वाली कड़ियाँ बन जाती हैं। लोकतंत्र के अन्दर विभिन्न समूहों में शक्ति के लिए प्रतिद्वन्द्विता होती है और विभिन्न जातियों में आपस में मिल-जुलकर गठजोड़ बनाने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, ताकि वे सत्ता का लाभ प्राप्त कर सकें।

3. जाति व्यवस्था का चैतन्य रूप जाति प्रथा का तीसरा रूप चेतना-बोध है। कुछ जातियाँ अपने को उच्च समझती हैं और इस कारण समाज में उनकी विशेष प्रतिष्ठा होती है। इस कारण कुछ निम्न समझी जाने वाली जातियाँ भी अपने को उनके साथ जोड़ने की चेष्टा करती हैं। क्षत्रिय वर्ग के साथ जो प्रतिष्ठा जुड़ी हुई है, उसके कारण देश के विभिन्न भागों में अनेक जातियों ने इस वर्ण का दावा

किया है। कुछ जातियों ने इसी प्रकार ब्राह्मण पद का भी दावा किया है। राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक स्थिति में परिवर्तन के परिणामस्वरूप जाति विशेष की स्थिति भी बदलती है।

प्रो. रजनी कोठारी ने जाति के राजनीतिकरण की चर्चा करते हुए कहा है, “इससे पुराना समाज नई राजनीतिक व्यवस्था के करीब आया है।” इस प्रक्रिया को उन्होंने तीन चरणों में बाँटा है-

1. शक्ति और प्रभाव की प्रतिस्पर्द्धा ऊँची जातियों तक सीमित रही-भारत का पुराना समाज जब नई व्यवस्था के सम्पर्क में आने लगा तो सबसे पहले शक्ति और प्रभाव की स्पर्धा समाज की प्रतिष्ठित और जमी हुई जातियों तक सीमित रही।
2. जाति के अन्दर की प्रतिस्पद्ध गुटबन्दी-इस चरण में भिन्न जातियों की प्रतिस्पर्द्धा के साथ-साथ जाति के अन्दर भी प्रतिस्पर्द्धा गुट बन जाते हैं। प्रतिद्वन्द्वी नेताओं के पीछे गुट बन जाते हैं।
3. जाति के बन्धन ढीले पड़ना और राजनीति को व्यापक आधार मिलना-प्रो. रजनी कोठारी के अनुसार तीसरे चरण में एक ओर राजनीतिक मूल्यों की प्रधानता हुई और जाति-पाँति से लगाव कम हुआ, वहाँ दूसरी ओर शिक्षा, नये शिल्प और शहरीकरण के कारण, समाज में परिवर्तन आया। भौतिक उन्नति की नई धारणाओं पर जोर बढ़ा।

प्रो. रजनी कोठारी का राजनीति में जाति सम्बन्धी निष्कर्ष इस प्रकार है-

1. आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था में भाग लेने के कारण पहले तो जाति प्रथा पर पृथकता की प्रवृत्ति का प्रभाव पड़ा, बाद में जाति भावना का सामंजस्य हुआ और इसने राजनीतिक संगठन में सहायता दी।
2. आधुनिक राजनीति में भाग लेने से लोगों की दृष्टि में परिवर्तन हुआ और उनको यह समझ में आ गया कि आज के युग मे केवल जाति और सम्प्रदाय से काम नहीं चल सकता।
3. जहाँ जाति बड़ी होती है वहाँ भी उसमें एकता नहीं रहती, उसमें उपजातियों के भेद होते हैं और छोटी जातियाँ तो अपने बल पर चुनाव भीं नहीं जीत सकती हैं। यदि कोई प्रत्याशी अपनी ही जाति का पक्ष लेता है तो दूसरी जातियाँ उसके खिलाफ हो जाती हैं; इसलिए चुनाव की राजनीति में अनेक जातियों का गुट बनाना पड़ता है।
4. राजनीति में आने के कारण जाति की भावना ढीली पड़ जाती है और अनेक नई निष्ठाओं का उदय होता है।
5. आजकल राजनीति में जातिवाद और सम्प्रदायवाद का जोर बढ़ने की शिकायत की जाती है। ऐसा-समझा जाता है कि शिक्षा प्रसार, शहरों के विस्तार और औद्योगीकरण के कारण सम्प्रदाय और जाति के बन्धन जो ढीले पड़ गए थे, वे चुनाव की राजनीति के कारण फिर से जोर पकड़ रहे हैं ओर इससे देश में फूट बढ़ेगी जिससे धर्म-निरपेक्ष लोकतन्त्र का ढाँचा खतरे में पड़ जाएगा, किन्तु प्रो. कोठारी का मानना है कि वास्तव में जाति और राजनीति के मिश्रण से दूसरे ही परिणाम निकलते हैं। इससे राजनीति का जातिकरण होने के बजाय, जाति का राजनीतिकरण हो जाता (It is not Polities that gets caste ridden, it is caste that gets Politicisation) राजनीति ने जाति को लीक से हटाकर नया सन्दर्भ दे दिया है, जिससे उसका पुराना रूप बदल रहा है।
6. आधुनिकतावादी नेता जाति-पाँति पर भले ही नाक सिकोड़ें, परन्तु इसके द्वारा राजनीतिक शक्ति उन वर्गों या समूहों के हाथ में पहुँच सकी, जो अब तक उससे वंचित थे।

7. जाति के आधार पर संघ और संगठन बनते हैं जैसे कायस्थ सभा, क्षत्रिय संघ आदि। सब मिलाकर जातीय संगठनों ने भारत की राजनीति में वही कार्य किया है, जो पश्चिमी देशों में विभिन्न हितों व वर्गों के संगठनों ने।

8. जातियों और सम्प्रदायों के राजनीति में भाग लेने के फलस्वरूप सामूहिक या राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ है और उनकी पृथकता कम होकर उनका राजनीतिक एकीकरण हुआ है।

जाति और राजनीति में अन्तःक्रिया : सैद्धान्तिक आधार
(Interactions between Caste and Politics: Theoretical Framework)

भारत में जाति और राजनीति में किस प्रकार का सम्बन्ध है? इस सम्बन्ध में चार प्रकार के विचार प्रस्तुत किए जाते रहे हैं-

सर्वप्रथम, यह कहा जाता है कि भारतीय सामाजिक व्यवस्था का संगठन जाति की संरचना के आधार पर हुआ है और राजनीति केवल सामाजिक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति मात्र है। सामाजिक संगठन राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप निर्धारित करता है।

द्वितीय, राजनीति के प्रभाव के फलस्वरूप जाति नया रूप धारण कर रही है। लोकतान्त्रिक राजनीति के अन्तर्गत राजनीति की प्रक्रिया प्रचलित जातीय संरचनाओं को इस प्रकार प्रयोग में लाती है; जिससे सम्बद्ध पक्ष अपने लिए समर्थन जुटा सकें तथा अपनी स्थिति को सुदृढ़ बना सकें। जिस समाज में जाति को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संगठन माना जाता है उसमें यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि राजनीति इस संगठन के माध्यम से अपने आपको संगठित करने का प्रयास करे। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जिसे हम राजनीति में जातिवाद के नाम से पुकारते हैं वह वास्तव में जाति का राजनीतिकरण है।

तृतीय, भारत में राजनीति" जाति' के इर्द-गिर्द घूमती है। जाति प्रमुखतम राजनीतिक दल है। यदि मनुष्य राजनीति की दुनिया में ऊँचा उठना चाहता है तो उसे अपने साथ ही अपनी जाति को लेकर चलना होगा। भारत में राजनीतिज्ञ जातीय समुदायों को इसलिए संगठित करते हैं ताकि उनके समर्थन से उन्हें सत्ता तक पहुँचने में सहायता मिल सके।

चतुर्थ, जातियाँ संगठित होकर प्रत्यक्ष रूप से राजनीति में भाग लेती हैं और इस प्रकार जातिगत भारतीय समाज में जातियाँ ही "राजनीतिक शक्तियाँ' बन गई हैं।

दबाव समूह का अर्थ एवं परिभाषा-राजनीतिक दल शासन सत्ता पर नियन्त्रण स्थापित करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है परन्तु दबाव समूह इस प्रकार का कोई प्रयत्न नहीं करते। इस क्षेत्र में दोनों का दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न होता है, परन्तु इन दोनों के दृष्टिकोणों में भिन्नता होते हुए भी ये एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी न होकर एक-दूसरे के पूरक हैं तथा एक-दूसरे के कार्यों में सहायक की भूमिका निभाते हैं। दबाव समूह विशेष हितों की रक्षा के लिए संगठित किए जाते हैं। ये विशेष हित समाज के विभिन्न हितों के ही एक अंश होते हैं। अतः यह आवश्यक नहीं है कि ये हित सार्वजनिक हित के विरुद्ध ही हों। अलग-अलग हितों की पूर्ति अप्रत्यक्ष रूप से व समग्र रूप से सार्वजनिक हितों की पूर्ति करते हैं। इसी प्रकार राजनैतिक दल सार्वजनिक हित पर अधिक बल देते हैं और विशेष हितों तथा सार्वजनिक हितों में समन्वय करने का प्रयास करते हैं। राजनैतिक दलों का दृष्टिकोण मुख्यतः राजनैतिक होता है। समाज में व्याप्त वैचारिक एवं सैद्धान्तिक भिन्नता में सामुदायिक भावना से कार्य करने की प्रवृत्ति का विकास करना ही दलों का मुख्य लक्ष्य होता है। दबाव समूह किसी विशेष समूह की राजनैतिक माँगों को सरकार के समक्ष प्रस्तुत करते हैं तथा विभिन्न

उपाय अपनाकर अन्य समूहों का समर्थन प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। इस प्रकार ये भी सामूहिक समर्थन के बल पर सरकार तथा उसके कार्यों को सार्वजनिक रूप में परिवर्तित करने का प्रयत्न करते हैं। दलीय व्यवस्था दबाव समूहों के हितों से सार्वजनिक हितों की रक्षा करते हैं तथा साथ ही इस बात का भी प्रयत्न करते हैं कि इस प्रकार के विभिन्न हितों को संयुक्त कर सबका ही सार्वजनिक समर्थन प्राप्त किया जाए। अतः दोनों के संयुक्त प्रयासों से ही ऐसे कानूनों का निर्माण किया जाता है; जिनके द्वारा सामान्य हितों के साथ-साथ सार्वजनिक हितों की भी रक्षा सम्भव हो पाती है। इस प्रकार दबाव समूह एक ओर विशेष हितों के दृष्टिकोण से सरकार को परिचित कराते हैं तो दूसरी ओर प्रशासन की नीतियों एवं दृष्टिकोणों को जनता तक पहुँचाते हैं।

परिभाषाएँ-हिचनर (Hitchner) और हार्बोल्ड (Harbold) के शब्दों में, "दबाव-समूह कुछ व्यक्तियों का ऐसा समूह है जो मान्य और सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सरकार से कुछ माँग करके सामान्य नीतियों को प्रभावित करने का प्रयत्न करता है।"

माइनर वीन के शब्दों में, "हित समूह अथवा दबाव समूह से अभिप्राय एक ऐसे ऐच्छिक रूप से संगठित समुदाय से है, जो प्रशासकीय ढाँचे से बाहर रहकर सरकारी अधिकारियों के निर्वाचन, मनोनयन और सार्वजनिक नीति के निर्माण व क्रियान्वयन को प्रभावित करने का प्रयास करता है।"

दबाव गुट की विशेषताएँ या लक्षण

1. सीमित उद्देश्य-दबाव गुट का कोई एक या कुछ विशेष उद्देश्य होते हैं।
2. सत्ता से दूर दबाव गुट न तो चुनावों में अपने उम्मीदवार खड़ा करते हैं और न वे अपनी सरकार बनाना चाहते हैं।
3. संवैधानिक और असंवैधानिक दोनों साधनों का प्रयोग-दबाव गुट अपने उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु संवैधानिक और असंवैधानिक तथा सुरा-सुन्दरी आदि सभी साधनों का प्रयोग करते हैं।
4. संगठित और असंगठित-दबाव गुट संगठित भी हो सकते हैं और असंगठित भी।
5. राजनीतिक संगठन नहीं-दबाव गुट राजनीतिक संगठन नहीं होते हैं। हैरी एक्सटीन के शब्दों में, "दबाव गुट का स्वरूप राजनीतिक समूह से कम और अराजनीतिक समूह से अधिक होता "है।" ये दबाव गुट" अज्ञात साम्राज्य' हैं।

भारत में प्रमुख दबाव समूह भारत के अधिकांश दबाव समूहों का उदय राष्ट्रीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि में हुआ है और ये दबाव समूह विभिन्न राजनैतिक दलों के साथ सम्बद्ध हैं। अतः ये अपने से सम्बन्धित दलों के हितों के अनुरूप ही सदस्यों के हितों को परिवर्तित करने का प्रयास करते हैं। इस तथ्य को विभिन्न दबाव गुटों के परिप्रेक्ष्य में और अधिक स्पष्ट इस प्रकार किया जा सकता है:

1. व्यावसायिक समूह-भारत का प्रत्येक राजनैतिक दल किसी न किसी रूप में व्यावसायिक समूह से सम्बन्धित रहा है। व्यावसायिक समूह राजनैतिक दलों को चन्दे के रूप में सहायता प्रदान करते हैं। इसी कारण अथवा इसी दृष्टिकोण को अपनाते हुए विभिन्न व्यावसायिक समूह काँग्रेस का समर्थन करते हैं। यद्यपि काँग्रेस दल ने समाजवादी समाज की स्थापना का संकल्प किया है, परन्तु इसे पूर्णतया साम्यवादी मार्ग पर जाने से रोकने के लिए ही ये समूह उस पर अपना प्रभाव जमाये रखने का प्रयत्न करते हैं। ये समूह चन्दे के अतिरिक्त अन्य उपायों द्वारा भी दलों की नीतियों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। अनेक संसद सदस्य व मन्त्री भी इन व्यावसायिक समूहों से सम्बन्धित होते

हैं। बड़े-बड़े समाचार-पत्रों पर इन समूहों का एक प्रकार से एकाधिकार ही है। हिन्दुस्तान टाइम्स के सम्पादक बी. जी. वर्गीस का अपने पद से हटाया जाना इस तथ्य का द्योतक है कि समूह और दल किस सीमा तक एक-दूसरे पर आश्रित हैं।

NOTES

2. श्रमिक संघ-भारत में जितने भी प्रमुख श्रमिक संघ हैं वे किसी न किसी दल के अभिन्न अंग हैं। उदाहरणार्थ, इण्डियन ट्रेड यूनियन कांग्रेस (इण्टक) का सम्बन्ध काँग्रेस से, अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस का समबन्ध साम्यवादी दल से, हिन्द मजदूर सभा का सम्बन्ध समाजवाद से व यूनाइटेड ट्रेड यूनियन काँग्रेस का सम्बन्ध वामपंथियों से है। इन संघों का नियन्त्रण एक प्रकार से राजनैतिक दलों के हाथ में है तथा वे इनका प्रयोग अपने हितों की पूर्ति के लिए करते हैं। ये संघ बजाय श्रमिकों के हितों के दलीय शक्ति पर अधिक जोर देते हैं। जैसा कि बीनर ने लिखा है कि, "श्रमिक संघों ने मित्राचार की स्थिति को बनाये रखा है क्योंकि उनका विश्वास है कि श्रमिकों के हितों की सुरक्षा राष्ट्रीय विकास पर निर्भर करती है और राष्ट्रीय विकास सृदृढ़ सरकार और सुदृढ़ काँग्रेस दल पर निर्भर करता है।"

3. छात्र संगठन-महात्मा गाँधी द्वारा संचालित विभिन्न आन्दोलनों में छात्रों ने अपनी सक्रिय भूमिका निभाई थी। 1936 में सर्वप्रथम अखिल भारतीय छात्र संघ की स्थापना की गई। यह संघ शीघ्र ही साम्यवादी दल के प्रभाव में आ गया। आज स्थिति यह है कि प्रत्येक राजनैतिक दल ने अपने समर्थक छात्र-संघ बना रखे हैं। दल इन संगठनों के माध्यम से अपने राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति करने का प्रयत्न करते हैं। छात्रों द्वारा संगठित" नव-निर्माण समिति' के दबाव के कारण ही राष्ट्रपति को गुजरात विधानसभा भंग करनी पड़ी थी।

4. कृषि समूह-भारत में कृषक संगठन एक प्रकार से निष्क्रिय है फिर भी कुछ कृषक संगठनों को जन्म दिया गया है। इन संगठनों का सम्बन्ध राजनीति से नहीं होता परन्तु इनके भी अपने विभिन्न हित हैं। अतः इन हितों की पूर्ति हेतु ये किसी न किसी दल हेतु ये किसी न किसी दल से अप्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित होते इसी प्रकार वे निर्वाचन के समय प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित होते हैं एवं इसी प्रकार वे निर्वाचन के समय प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से किसी न किसी राजनैतिक दल का समर्थन करते हैं तथा यह आशा करते हैं कि वे भी समय पड़ने पर उनकी माँगों अथवा हितों का समर्थन करेंगे। महेन्द्र सिंह टिकैत के नेतृत्व में गठित भारतीय किसान यूनियन एक सशक्त संगठन के रूप में उभरा किन्तु उसमें आपसी मतभेद उत्पन्न हो जाने के कारण उसकी संघर्षात्मक शक्ति में ह्रास हुआ है।

5. महिल संगठन अखिल भारतीय महिला संगठन पर पहले साम्यवाद का प्रभाव था, परन्तु धीरे-धीरे यह संगठन कांग्रेस के प्रभाव में आ गया। जब हिन्दू कोड बिल पर विचार हो रहा था तो इस संगठन ने हितबद्ध समूह के रूप में संसद सदस्यों पर काफी प्रभाव डाला। महिला आरक्षण को लेकर इस संगठन ने विशेष भूमिका निभाई और विधायिकाओं में महिलाओं के लिए 33 प्रतिशत स्थान सुरक्षित करने वाले विधेयक को तैयार कराने में इसकी भूमिका रही। भारतीय जनता पार्टी ने संसद में इस विधेयक को पेश करने का प्रयास किया किन्तु कुछ राजनीतिक दलों की अड़ंगेबाजी ने इसे पेश नहीं होने दिया। किन्तु अखिल भारतीय संगठन सक्रिय है और अपने लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु प्रयत्नशील है।

6. सांस्कृतिक समूह वास्तव में सांस्कृतिक समूहों का गठन सांस्कृतिक सम्बन्धों को दृढ़ करने के लिए किया जाता है। इन्हें अपने विभिन्न कार्यक्रमों को सम्पादित करने के लिए सरकारी व गैर-सरकारी

दोनों प्रकार की सहायता मिलती है। इनके कुछ प्रमुख उदाहरण हैं-भारत-रूस सांस्कृतिक संघ, भारत-चीन मैत्री समाज, अखिल भारतीय शान्ति परिषद् आदि। इनमें से कुछ संघ पूँजीवादी गुट का व कुछ साम्यवादी गुट का समर्थन करते हैं।

इसी प्रकार अनियमित समूह, सामुदयिक संघ, विचारधारा से सम्बन्धित समूह एक ओर तो हितबद्ध समूह के रूप में कार्य करते हैं तथा दूसरी ओर दलों के साथ सहयोग करके कार्य को अधिक सुगम बनाने मे सहायक सिद्ध होते हैं।

राजनीतिक दलों के प्रमुख कार्य (Main Functions of Political Parties)-आधुनिक राजनीतिक व्यवस्थाओं में राजनीतिक दल अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं जिनका उल्लेख निम्न प्रकार किया जा सकता है :

1. दल राजनीतिक प्रक्रिया को संगठित करते हैं, सरल बनाते हैं तथा कभी-कभी विखण्डित होने वाले प्रशासनिक ढाँचे में संगति स्थापित करते हैं। उदाहरण के लिए, अमरीका का डेमोक्रेटिक दल दक्षिण के रूढ़िवादियों तथा उत्तर के उदारवादियों को समीप लाने या मिलाने का कार्य करता है, जर्मनी का डेमोक्रेटिक दल जर्मनी में प्रोटेस्टेण्टों तथा कैथोलिकों के बीच खाई को मिटाने के लिए पुल की भाँति कार्य करता है। संघीय व्यवस्था में सभी राजनीतिक दल विभिन्न प्रशासनिक ढाँचों की एकता पर बल देते हैं, किन्तु रूस का अपना ही उदाहरण है। इस प्रकार, राजनीतिक दल सर्वोच्च सामान्य निर्धारक का आयोजन करने का काम करते हैं।

2. राजनीतिक दल सत्ता पर अधिकार करने के लिए संघर्ष करते हैं। वे अराजकता हटाकर व्यवस्था लाने के प्रयत्न करते हैं। वे जिन हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं, उन्हें व्यापक करना चाहते हैं तथा इन हितों को एक-दूसरे के अनुकूल बनाते हैं। यद्यपि दबावकारी समूह हितों को मुखरित करने का कार्य करते हैं, दलीय हितों को समूहित करने का कार्य करते हैं। उदाहरण के लिए, ब्रिटेन का रूढ़िवादी दल अपने आन्तरिक गठन तथा सत्ता के वितरण की प्रकृति के बावजूद इंग्लैण्ड की राजनीति में विभिन्न आर्थिक, सामाजिक तथा भौगोलिक अनुवर्गों पर निर्भर है। सभी दल अपने समर्थन के क्षेत्र को वृहत् या विकसित करने का प्रयास करते हैं।

3. राजनीतिक दल सरकार तथा जनता के बीच सम्पर्क सूत्र की व्यवस्था करते हैं। वे निर्वाचकों को शिक्षित करना, दिशा-निर्देश देना तथा उन्हें सक्रिय बनाना चाहते हैं अर्थात् वे राजनीतिक जन जागरण, लौकिकीकरण तथा भर्तीकरण का कार्य करते हैं। उदार प्रजातान्त्रिक व्यवस्था में लोगों को राजनीतिक शिक्षण देने के लिए दल संचार माध्यमों का प्रयोग करते हैं। दल "व्यावसायिक तथा सामाजिक संस्कारोत्पत्ति' के लिए कुछ संघों अथवा संगठनों का गठन तथा उन पर नियन्त्रण कर सकते हैं। (हैनिंग तथा पिंडर) सर्वाधिकारी व्यवस्था में सत्ताधारी दल जनता की राजनीतिक दल के साथ एकरूपता पर बल देने के लिए रैलियों, वर्दियों, झण्डों तथा एकता के अन्य प्रदर्शनों के माध्यम से जनता को सक्रिय करके समर्थन जुटाने का कार्य करता है।

4. राजनीतिक गतिविधि का क्षेत्र बढ़ाते तथा जनता की भागीदारी के आधार को विस्तृत करते हुए राजनीतिक दल राजनीतिक नेताओं की भर्ती का महत्त्वपूर्ण कार्य भी करते हैं। सत्ता रखने वाले लोगों की भर्ती कुछ सारणियों के माध्यम से की जाती है। निर्बल तथा गलत प्रकार से संगठित राजनीतिक दलों वाली राजनीतिक व्यवस्थाओं में सत्ता संभ्रांतों के हाथों में रहती है; जिनको भर्ती परम्परागत समूहों (जैसे वंशानुगत शासन करने वाले परिवारों अथवा सैनिक संगठनों) में से की जाती है।

सर्वाधिकारवादी देशों में जहाँ केवल एक दल के पास सत्ता होती है; उसी दल के कार्यकर्ताओं में से राजनीतिक भर्ती की जाती है। केवल उदार प्रजातान्त्रिक व्यवस्था वाले देशों में ही प्रतियोगितापूर्ण दलीय व्यवस्था विद्यमान होती है तथा विभिन्न राजनीतिक दलों में से राजनीतिक भर्ती की जाती है।

5. राजनीतिक दल मुद्दे प्रस्तुत करते हैं, वे समाज के मूल्यपरक लक्ष्य निश्चित करते हैं। सभी दलों का दार्शनिक आधार होता है, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि वह कितना अस्पष्ट है तथा दल के वास्तविक व्यवहार से वह कितना दूर है। अमरीका के राजनीतिक दलों में समाज के मौलिक लक्ष्यों पर असहमति नहीं है जैसा आर. ए. डाहल ने कहा है कि दोनों में वैचारिक समानता है, किन्तु मुद्दों पर संघर्ष होता है। आयरलैण्ड के दोनों दल (फियान फैन तथा फियाना गैल) "वैचारिक समानता तथा मुद्दों में संघर्ष' की प्रकृति के सन्दर्भ में संयुक्त राज्य अमेरिका के दोनों दलों का प्रतिरूप हैं। सर्वाधिकारवादी व्यवस्थाओं में केवल एक राजनीतिक दल समाज के लिए कठोर वैचारिक लक्ष्य निश्चित करता है। उदाहरण के लिए, साम्यवादी दल "सर्वहारा के अधिनायकवाद' की स्थापना के उपरान्त सबको सामाजिक व आर्थिक समानता की स्थापना का दावा करता है।

6. राजनीतिक दल अनेक मुद्दों का चयन करके तथा उन पर ध्यान केन्द्रित कराकर विचारों के लेन-देन का कार्य करते हैं। प्रजातान्त्रिक व्यवस्था में क्रान्तिकारी दल (अथवा जो स्थापित व्यवस्था के वर्तमान रूप के विरुद्ध है) सामान्य हित की विशालतम संख्या को एकत्रित करने में मेल-मिलाप के तत्त्व के रूप में नहीं बल्कि असन्तोष के केन्द्र बिन्दुओं तथा संगठित विरोध के रूप में आचरण करते हैं। प्रजातान्त्रिक राजनीतिक व्यवहार में आवश्यक समझौता उन्हें स्वीकार नहीं होता। ये दल राजनीतिक वामपंथ को अपना सकते हैं; जैसा साम्यवादी दल करते हैं, अथवा वाम पंथ को अपना सकते हैं (जैसा फाँसीवादी दल ने इटली में और नाजी दल ने जर्मनी में द्वितीय विश्व युद्ध से पहले की अवधि में किया) या फ्रान्स में पोजादिस्त अथवा वे क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद को अपना सकते हैं; जैसे पीरू में अप्रिस्ता या बोलीविया में क्रान्तिकारी दलों की केवल ऐसी कार्य-विधि न हो; जिसके माध्यम से राजनीतिक व्यवस्था संचालित होती है, किन्तु वे स्वयं व्यवस्था का वास्तविक केन्द्र हो सकते हैं; जिसमें शासन के अधिकारियों के स्थान पर दल के नेताओं द्वारा सत्ता का प्रयोग किया जाता है।

7. विश्व के नवजात तथा विकासशील देशों में, जहाँ अभी राजनीतिक आदतों तथा परम्पराओं का विकास होना है, राजनीतिक दल राजनीतिक आधुनिकीकरण का कार्य करते हैं अर्थात् वे शासन को एक विशेष रूप देने, विभिन्न सामाजिक व आर्थिक समूहों के बीच सम्पर्क का मुख्य सूत्र प्रस्तुत करने, राजनीतिक शिक्षण तथा समाजीकरण के प्रमुख अभिकरण का निर्माण करने, परम्परागत अवरोधकों को तोड़ने तथा जनजातिगत लगावों, धार्मिक लक्षणों या राष्ट्रीय मूल पर आधारित समूहों द्वारा विभाजित समुदायों को एकता में बाँधने वाली शक्ति के रूप में कार्य करने का प्रयत्न करते हैं। भारत में काँग्रेस दल की भूमिका को इस प्रकार का सर्वोत्तम उदाहरण कहा जा सकता है।

दबावकारी समूह

अर्थ-सरल शब्दों में, समूह का आशय व्यक्तियों के संगठन से है परन्तु समूह सिद्धान्त के सन्दर्भ में इसका भिन्न अर्थ है। आर्थर बेंटले के अनुसार, जिसे इस सिद्धान्त का निर्माता माना जाता है, "समूह (group) का अर्थ है समाज के लोगों का एक भाग, जिन्हें लोगों के अन्य समूहों से कटे हुए भौतिक पिण्ड के रूप में नहीं बल्कि गतिविधि के एक पिण्ड के रूप में माना जाता है और जो इसमें भाग लेते हैं, उन्हें उसी प्रकार

की अनेक अन्य समूह सम्बन्धी गतिविधियों में भागीदारी से वंचित नहीं करता।' ट्रूमैन का कहना है कि "समूह उन लोगों का संकलन है जो एक अथवा अधिक समभागी अभिवृत्तियों के आधार पर समाज में अन्य समूहों पर व्यवहार के उन रूपों की स्थापना, सुरक्षा अथवा वृद्धि के कुछ दावे प्रस्तुत करते हैं; जो समभागी अभिवृत्तियों में निहित होते हैं। समभागी प्रवृत्तियाँ ही "हित' (interest) का निर्माण करती हैं।

हर समूह का अपना हित होता है और यह गतिहीन रूप की बजाय प्रक्रिया की एक शैली का द्योतक है। इस कारण समूह तभी उभर सकता है जब इसके व्यक्तिगत सदस्यों के बीच पारस्परिक क्रियाएँ अपेक्षाकृत बार-बार होती रहें तथा दिशात्मक गतिविधि को उत्पन्न करने में वे पर्याप्त रूप में शैलीबद्ध हों। यह स्मरण रखना चाहिए कि नियमित, संयोगवश तथा वर्गयुक्त रूप में समूह एक-दूसरे से भिन्न होते हैं तथा यह तथ्य कि वही लोग अनेक समूहों से सम्बन्धित हो सकते हैं तथा वे ऐसा करते भी हैं। यह पर्याप्त रूप में स्पष्ट कर देता है कि समूह के साथ विशेष रूप से जुड़ी गतिविधि इसके रचनात्मक गठन की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होती है। जो वस्तु व्यक्तियों को किसी समूह के सदस्यों के रूप में बाँध ती हैं; वह है हित-अर्थात् सामाजिक व्यवस्था में एक समूह द्वारा कुछ अन्य समूहों पर दावे अथवा दावों से सम्बन्धित समभागी अभिवृत्ति। प्रो. यंग ने समूह की निम्न विशेषताएँ बताई हैं-

1. समूह को लोगों के संकलन मात्र रूप में नही बल्कि गतिविधि के पिण्ड के रूप में तथा साथ ही गतिहीन रूप की बजाय शैलीबद्ध प्रक्रिया के रूप में देखा जाता है।
2. समूह उन सामूहिक अन्तः क्रियाओं के बीच मे रहता तथा कार्य करता है जो अपेक्षाकृत बार-बार होती हैं तथा दिशात्मक गतिविधि उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त रूप में शैलीबद्ध होती हैं।
3. समूह का अपना हित होता है जिसका अध्ययन वैज्ञानिक ढंग से किया जाना चाहिए। समूह के हित को इसकी नीतिमुखी व दिशात्मक गतिविधियों का योग माना जाता है।
4. वास्तविक समूह को एक"वर्गयुक्त' समूह के संयोगवश संकलन से भिन्न मानना चाहिए तथा तीव्रता की विभिन्न मात्राओं में लोग अनेक समूहों की सदस्यता से जुड़े रहते हैं।
5. किसी समय पर समाज की दशा का निर्माण समूहों के दबावों के सन्तुलन से होता है।
6. समूहों की संख्या अनेक घटकों (जैसे सदस्यों की संख्या, संगठन की तीव्रता तथा उनके रूप) के कारण बदलती रहती है।
7. समूह की हर गतिविधि को राजनीतिक नहीं माना जा सकता, यह उस स्थिति में राजनीतिक होती है जब कोई समूह शासन के अभिकरणों के माध्यम से अथवा उन पर अपने दावे प्रस्तुत करता है।
8. शासन का यह कार्य है कि वह विभिन्न प्रतियोगी समूहों के बीच संघर्ष का सामना करने के लिए विनियमित समायोजन प्रक्रिया की स्थापना करे।

समग्र रूप में, राजनीति का समूह सिद्धान्त इस धारणा पर आधारित है कि समाज" उन समूहों का अकेला संसार है, जो मिलते हैं, टूटते हैं, संघ बनाते हैं तथा निरन्तर परिवर्तनों के बहाव में मिश्रित संघों व सत्ता के जगत का गठन करते हैं तथा समाज उन्हीं समूहों के बीच दबाव व प्रतिरोध के कारण चलता रहता है।"

राजनीतिक दलों तथा दबावकारी समूहों में अन्तर-तकनीकी अर्थ में, राजनीतिक दल को दबावकारी समूह से निम्न आधारों पर भिन्न माना जा सकता है-

1. दल बहुत बड़ी इकाई है जिसकी सदस्य संख्या हजारों, लाखों यहाँ तक कि करोड़ों में हो सकती है, परन्तु समूह तुलनात्मक दृष्टि से बहुत छोटा निकाय है जिसकी सदस्य संख्या सैकड़ों अथवा हजारों

में होती है। यह हो सकता है कि कोई राजनीतिक दल छोटा सा संगठन हो; जिसके सदस्य कुछ सौ अथवा हजार हों (जैसे जापान में बौद्धों का सोक्का गोकाई) तथा ऐसी स्थिति में राजनीतिक दल व दबाव समूह के बीच भेद की रेखा अस्पष्ट हो जाए।

2. समूह सदा सुनिश्चित या स्पष्ट हितों पर आधारित होता है। यह अपने हितों की सुरक्षा व उसके संवर्द्धन के लिए कार्य करता है। हित वेतन व भत्तों की वृद्धि करने, कृषि की वस्तुओं के मूल्य को बढ़ाने, किसी विशेष भाषा या संस्कृति की वृद्धि करने, कृषि की वस्तुओं के मूल्य को बढ़ाने, किसी विशेष भाषा या संस्कृति के संरक्षण करने; जैसा कुछ भी हो सकता है। अतः दबाव समूह का वर्णन हितों को मुखरित करने वाले अभिकरण के रूप में किया जाता है। परन्तु दल अनेक हितों का संघ या गठबन्धन होता है। इसमें जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्ध रखने वाले लोग (जैसे व्यापारी, मजदूर, किसान, वकील आदि) सम्मिलत होते हैं, अतः दल को हितों के योग का उपकरण माना जाता है।

3. परन्तु दोनों के बीच अन्तर का सबसे महत्त्वपूर्ण बिन्दु यह है कि राजनीतिक दल देश की राजनीतिक प्रक्रिया में अपनी भूमिका खुले रूप में निभाता है; जबकि दबावकारी समूह अपने को आँख मिचौनी के खेल में संलिप्त करके ऐसा करते हैं। दल के पास अपना पंजीकृत कार्यालय, विधान, झण्डा, सदस्यता का रिकार्ड, पदाधिकारियों की सूची आदि होते हैं; जबकि दबावकारी समूहों के पास इनका अभाव होता है।

भारतीय दबाव समूहों की विशेषताएँ

1. स्वतन्त्र अस्तित्व का अभाव-भारतीय हितबद्ध समूह अभी अपने शैशवकाल में हैं। अतः अपनी दुर्बलताओं के कारण वे अभी पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो पाए हैं। इनका कार्य-क्षेत्र भी सीमित है। वे तो किसी न किसी राजनीतिक दल के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर उनके लिए शक्ति जुटाने का कार्य करते हैं। इस प्रकार उनका अपना कोई अस्तित्व नहीं होता। इनकी स्थिति तो केवल राजनैतिक दलों के सहायक के रूप में है। जैसे इण्टक का सम्बन्ध काँग्रेस से तथा अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस का सम्बन्ध साम्यवादी दल से है। इन समूहों के स्वतन्त्र रूप से विकसित होने का कारण स्वयं कांग्रेस दल ही है। यह दल स्वयं राज्य प्रशासन के उपकरणों पर दबाव डालता है। दल के अन्दर अनेक ऐसे हितबद्ध गुटों का विकास हो गया है, जिनके द्वारा विशिष्ट हितों की पूर्ति होती है। अतः स्वतन्त्र हितबद्ध समूहों का विकास नहीं हो पाता और यदि कोई समूह अपना स्वतन्त्र विकास करने का प्रयत्न करता भी है तो कोई न कोई दल उसे अपना अभिन्न अंग बनाकर, उनके स्वतन्त्र विकास पर रोक लगा देता है।

   इनके स्वतन्त्र रूप से विकसित न होने का एक अन्य कारण और भी है। अधिकांश हितबद्ध समूहों का कार्य क्षेत्र नगरों अथवा व्यवसायों तक ही सीमित है। भारत की ग्रामीण जनता इनके प्रभाव-क्षेत्र मुक्त है। अतः अपने सीमित क्षेत्र के कारण भी ये स्वतन्त्र रूप से विकसित नहीं हो पाए यद्यपि आल इण्डिया किसान सभा जैसे कुछ ग्रामीण संगठन भी हैं परन्तु इनकी संख्या नगण्य है; जबकि नगरीय हितबद्ध समूह अब तक स्वतन्त्र अस्तित्व विकसित नहीं कर पाए हैं तो फिर ग्रामीण समूहों से ऐसी आशा करना व्यर्थ है।

2. पारिवारिक और जातीय स्वरूप-भारत में अधिकांश हितबद्ध समूहों का सम्बन्ध कुछ परिवारों तथा कुछ जातियों तक ही सीमित है। भारत के अधिकांश समूहों पर इन दोनों का नियन्त्रण है। इन परिवारों तथा जातियों के प्रमुख उदाहरण हैं-टाटा, बिड़ला, डालमिया, जैन, पारसी, मारवाड़ी, चेट्टीयार

आदि। भारत में प्रकाशित होने वाले लगभग सभी प्रमुख समाचार-पत्रों पर इनका नियन्त्रण है। भारत में छात्रावासों का स्वरूप जातीय होता है तथा जातीय आधार पर ही छात्रवृत्ति देने का प्रबन्ध है। यहाँ तक कि सार्वजनिक पदों पर नियुक्तियाँ करते समय भी यह तत्त्व प्रमुख भूमिका निभाता है।

3. विघटनकारी स्वरूप हमारे देश में इन समूहों को लोकतान्त्रिक प्रक्रिया का आवश्यक विशेषक नहीं समझा जाता वरन् इसके विपरीत प्रशासनिक इकाइयों तथा अधिकारियों की यह मान्यता है कि ये अव्यवस्था तथा विचार भिन्नता फैलाने में सहायक सिद्ध होते हैं। अतः ये वर्ग इन समूहों की माँगों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण नहीं अपनाते। प्रशासन तथा अधिकारियों की उदासीनता व उपेक्षापूर्ण व्यवहार के कारण ये समूह अपनी माँग मनवाने के लिए ऐसा मार्ग अपनाने पर विवश हो जाते हैं (आन्दोलन, हड़ताल, दंगे आदि); जिन्हें सरकार के विघटन का द्योतक माना जाता है। भारतीय हितबद्ध समूह इस बात से पूर्णतया परिचित हैं कि सरकार उनकी माँगों के प्रति उस समय तक ध्यान नहीं देगी, तब तक कि अन्य उपाय अपनाकर उसका ध्यान न आकर्षित किया जाए। राज्यों का पुनर्गठन, नये राज्यों का निर्माण, भाषा का प्रश्न, वेतन वृद्धि सम्बन्धी अनेक घटनाएँ उपर्युक्त कथन को सत्य प्रमाणित करती हैं।

4. राजनीतिक वातावरण के बैरोमीटर-हितबद्ध समूह सर्वसाधारण में राजनैतिक संचेतना उत्पन्न कर उनकी भावनाओं से शिष्टजन (Elite) को परिचित कराते हैं। इस प्रकार वे जनता का लोकतान्त्रिक संस्थाओं से सहयोग बनाने का प्रयत्न करते हैं। इस सम्बन्ध में प्रो. मिलन लिखते कि, “हितबद्ध समूह अपने सदस्यों की कुल माँगों को नियोजित करते हैं, उन्हें परितुलित (Collate) करते हैं, कभी-कभी बहुमत के हित में उनमें मिलावट करते हैं और अन्त में वे इन्हें इस प्रकार उच्चरित करते हैं कि जिन पर समाज में उपयुक्त स्थान पर कार्य किया जा सके।”

5. प्रभावहीनता (Ineffective Groups) भारत के दबाव समूह अन्य देशों विशेषकर अमरीका के दबाव समूहों की तुलना में प्रायः प्रभावहीन रहते हैं। वे किसी राजनीतिक दल के माध्यम से सरकार पर दबाव डालकर अपने इच्छित लक्ष्य हासिल भले ही कर लें; स्वतन्त्र रूप से सरकारी नीतियों के निर्माण में वे प्राय: विशेष भूमिका नहीं निभा पाते। कारण यह है कि इनके सदस्यों में उस राजनीतिक चेतना का अभाव है; जिसकी लक्ष्यों की पूर्ति हेतु परम आवश्यकता है।

6. सामाजिक एकीकरण के वाहक-हितबद्ध समूह राजनीतिक जागृति के अतिरिक्त अपने नवीन संगठनों में ऐसे लोगों को भी सम्मिलित करते हैं जिनका स्वभाव, प्रकृति व दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न होता है तथा जो रूढ़िवादिता, साम्प्रदायिकता आदि दोषों से जकड़े हुए हैं। इस प्रकार ये समूह, समाज के मध्य जो मतभेद की दरार पाई जाती है, उसे भरने का प्रयत्न करते हैं।

7. पारस्परिक सहयोग की कमी इन हितबद्ध समूहों में पारस्परिक सहयोग की कमी पाई जाती है। अपनी इस कमी के कारण ही ये समूह संयुक्त रूप में प्रशासन पर दबाव नहीं डाल सकते। यह भी देखने मे आया है कि इनके आन्तरिक सम्बन्ध भी कटुतापूर्ण हैं। उदाहरण के लिए हम श्रमिक संघ को ले सकते हैं। इस प्रकार के संघों के सदस्य संघ के हितों की उपेक्षा कर स्वयं की स्वार्थ सिद्धि में लग जाते हैं।

8. सैद्धान्तिक वचनबद्धता का अभाव भारत में दबाव समूह, सिद्धान्तों से इतने प्रभावित नहीं हैं जितने कि वे धर्म, जाति आदि से प्रभावित हैं।

9. बाह्य नियन्त्रण का प्रभाव भारतीय दबाव समूहों पर बाह्य नियन्त्रण भी है। उदाहरण के लिए, श्रमिक

NOTES

संघों पर मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों और राजनीतिज्ञों का प्रभाव है।

10. विदेशी सहायता और विदेशी तकनीक पर निर्भर रहने के कारण विदेशी''लॉबी' भी भारतीय दबाव समूहों को प्रभावित करती है।

आजकल बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ (multinationals) इनको प्रभावित करने में बहुत सफल हो रहे हैं। ये पृष्ठभूमि में रहकर अदृश्य रूप से कार्य करते हैं। अब यह स्पष्ट होने लगा है कि आज भारतीय राजनीति में अदृश्य हाथ काम कर रहा है। विशेषकर आर्थिक नीतियों के निर्माण में इस अदृश्य हाथ (unseen hand) की बड़ी भूमिका परिलक्षित हो रही है।

सारांश

हमारे देश में विभिन्न दबाव समूहों को लोक तान्त्रिक प्रक्रिया का आवश्यक विषय नहीं समझा जाता है वरन् इसके विपरीत प्रशासनिक इकाइयों तथा अधिकारियों की यह मान्यता है कि ये अव्यवस्था तथा विचार भिन्नता फैलाने में सहायक सिद्ध होते हैं। अतः ये वर्ग इन समूहों की माँगों के प्रति सहानुभूति पूर्ण दृष्टिकोण नहीं अपनाते। प्रशासन तथा अधिकारियों की उदासीनता व उपेक्षापूर्ण व्यवहार के कारण ये समूह अपनी माँग मनवाने के लिए ऐसा मार्ग अपनाने पर विवश हो जाते हैं (आन्दोलन, हडताल, दंगे आदि) जिन्हें सरकार के विघटन का द्योतक माना जाता है। भारतीय हित बद्ध समूह इस बात से पूर्णतया परिचित हैं कि सरकार उनकी माँगों के प्रति उस समय तक ध्यान नहीं देगी जबतक अन्य उपाय अपनाकर उसका ध्यान न आकर्षित किया जाए। राज्यों का पुनर्गठन, नये राज्यों का निर्माण, भाषा का प्रश्न, चेतन वृद्धि सम्बन्ध अनेक घटनाएँ उपर्युक्त कथन को सत्य प्रमाणित करती हैं। विदेशी सहायता और विदेशी तकनीक पर निर्भर रहने के कारण विदेशी लॉबी भी भारतीय दबाव समूहों को प्रभावित करती है। आजकल बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ इन्हें प्रभावित करने में बहुत सफल हो रहे हैं। ये पृष्ठभूमि में रहकर अदृश्य रूप से कार्य करते हैं। अब यह स्पष्ट होने लगा है कि आज भारतीय राजनीति में अदृश्य हाथ काम कर रहा है। विशेषकर आर्थिक नीतियों के निर्माण में इन अदृश्य हाथों की बड़ी भूमिका परिलक्षित हो रही है।

स्व-प्रगति की जाँच करें :

1. संयुक्त परिवार का अर्थ स्पष्ट करें।
2. श्री जौली के अनुसार संयुक्त परिवार की अवधारणा स्पष्ट करें।
3. क्या आप ऐसा मानते हैं कि संयुक्त परिवार में सम्मिलित निवास स्थान हुआ करता है?
4. क्या संयुक्त परिवार में असीमित उत्तरदायित्व तथा परस्पर कर्तव्य बोध की भावना पाई जाती है।

स्व-प्रगति की जाँच के उत्तर :

1. मानव व्यवहार पर नियन्त्रण (Control Over human Behaviour)-धर्म मानव व्यवहारों पर नियन्त्रण रखने का एक महत्त्वपूर्ण साधन रहा है। धर्म का सम्बन्ध एक ऐसी शक्ति से है जो अलौकिक है तथा समस्त सामाजिक एवं प्राकृतिक घटनाओं का संचालन करती है। धर्म का सम्बन्ध पवित्र एवं अलौकिक वस्तुओं से होता है। अलौकिक वस्तु में विशेष शक्ति मानी जाती है। इस सम्बन्ध में गिलिन और गिलिन का मत है कि, "अलौकिक क्षेत्र शक्ति से पूर्ण होता है।"व्यक्ति अलौकिक शक्ति के कोप से बचने के लिए तथा दूसरी ओर उन्हें प्रसन्न करके लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से धार्मिक नियमों और आदर्शों का पालन करता है। प्रत्येक धर्म में लोक-परलोक, पाप-पुण्य एवं नरक-स्वर्ग आदि से सम्बन्धित अनेक विश्वास पाए जाते हैं। इन धार्मिक विश्वासों द्वारा व्यक्ति का व्यवहार नियन्त्रित होता है।

2. सामाजिक एकीकरण को प्रोत्साहन (Encouragement to Social Integration)-धर्म एक समूह के सदस्यों के मध्य एकीकरण की भावना को प्रोत्साहित करता है। एकीकरण का तात्पर्य एक प्रक्रिया से है; जिससे अनेक समूहों के बीच एकता की भावना उत्पन्न होती है। समाज में देवी-देवता तथा समान पूजा-विधि होने के कारण एक धर्म के लोगों में हम की भावना (We Feeling) उत्पन्न हो

जाती है। समान विचारों, आदर्शों, विश्वासों, भावनाओं, संस्कारों, व्यवहारों आदि के कारण व्यक्ति परस्पर सहयोग करते हैं। अलौकिक शक्ति से डर के कारण सदस्य अपने-अपने दायित्वों को निभाकर सामाजिक संरचना को व्यवस्थित रखते हैं।'गीता' में प्रत्येक व्यक्ति को स्वधर्म के अनुसार आचरण करने को कहा गया है। ऐसा न करने पर व्यक्ति पाप का भागीदार बनता है। स्वधर्म का पालन करने से सदस्यों के बीच एकीकरण की भावना में वृद्धि होती है। इस सम्बन्ध में जॉनसन ने स्पष्ट किया है कि, "धर्म कभी भी एकीकरण करने वाली एकमात्र शक्ति नहीं है बल्कि यह अनेक साधनों में से है जो एकीकरण को प्रक्रिया में योगदान करता है।" इस प्रकार धर्म सामाजिक एकीकरण में वृद्धि करके सामाजिक नियन्त्रण के अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न करता है।

3. व्यक्तित्व का विकास (Development of Personality)-व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करने में धर्म का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। धार्मिक शिक्षा परिवार में बाल्यावस्था से ही प्रारम्भ हो जाती है। विभिन्न धार्मिक संस्कारों, नियमों और विश्वासों द्वारा व्यक्ति का समाजीकरण होता है। उचित और अनुचित कार्य का निर्देशन धर्म से ही प्राप्त होता है। धर्म व्यक्ति में आत्म-विश्वास एवं साहस की भावना उत्पन्न करता है तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में भी उसे सद्मार्ग पर चलने को प्रेरित करता है। वास्तव में धर्म सद्गुणों का विकास करके व्यक्ति को एक आदर्श नागरिक बनने में सहायता करता है।

4. व्यक्ति का समाजीकरण (Socialization of the Individual)-शिक्षा की सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका व्यक्ति का समाजीकरण करना है। जॉनसन ने समाजीकरण की परिभाषा करते हुए लिखा है, "समाजीकरण एक सीखना है जो सीखने वाले को सामाजिक कार्य करने योग्य बनाता है।" समाजीकरण की प्रक्रिया में पाशविक प्रवृत्तियाँ मानवीय प्रवृत्तियों में बदल जाती हैं तथा व्यक्ति का विकास सामाजिक प्राणी के रूप में सम्भव होता है। अध्यापक, सहपाठी तथा विद्यालय के नियम समाजीकरण में योगदान देते हैं। शिक्षा व्यक्ति को समाज के रीति-रिवाजों, प्रथाओं, मान्यताओं, मूल्यों, आदर्शों, प्रतिमानों, मानदण्डों, नियमों, कानूनों आदि का ज्ञान कराती है। एक शिक्षित व्यक्ति में कानूनों को समझने तथा पालन करने की योग्यता होती है। कानूनों का पालन करने से समाज में नियन्त्रण बना रहता है।

अभ्यास प्रश्न

1. धर्म के मौलिक तत्व कौन-कौन से हैं? इनकी प्रमुख विशेषताएँ बताएँ।
2. सामाजिक नियन्त्रण में धर्म की भूमिका की विवेचना कीजिए।
3. शिक्षा क्या है? सामाजिक नियंत्रण में इसका क्या महत्त्व है?
4. राज्य का अर्थ स्पष्ट करें। इसके मौलिक तत्त्व क्या हैं? वर्णन करें।
5. जाति एवं राजनीति में सम्बन्धों की समीक्षा करें।
6. दबाव समूह क्या हैं? इनके लक्षणों पर प्रकाश डालें।
7. राजनीतिक दलों के प्रमुख कार्यों पर विस्तृत टिप्पणी लिखें।
8. दबावकारी समूह क्या हैं? दबावकारी समूहों तथा राजनीतिक दलों के बीच अन्तर स्पष्ट करें।
9. भारतीय दबाव समूह की विशेषताओं का वर्णन करें।

ekM~îy&2

NOTES

व्यक्ति एवं समाज
(Individual and Society)

इस अध्याय के अन्तर्गत :

- व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध
- व्यक्ति की समाज पर निर्भरता
- व्यक्ति पर समाज का प्रभाव
- समाजीकरण, इसके अर्थ इसकी परिभाषाए एवं प्रक्रिया
- समाजीकरण की विशेषताएँ
- व्यक्ति का समाजीकरण करने वाली संस्थाएँ
- संस्कृति, इसकी विशेषताएँ और प्रकृति
- संस्कृति के प्रकार
- सामाजिक जीवन में संस्कृति का महत्व
- सभ्यता का अर्थ और इसकी परिभाषाएँ
- सामाजिक नियन्त्रण की विशेषताएँ
- सामाजिक नियन्त्रण के उद्देश्य
- मूल्यों का महत्व

अध्याय के उद्देश्य :

- इस अध्याय के अध्ययन के उपरांत आप जान सकेंगे :
- व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध
- व्यक्ति की समाज पर निर्भरता

- व्यक्ति पर समाज का प्रभाव
- समाजीकरण, इसके अर्थ, इसकी परिभाषाएँ एवं प्रक्रिया
- समाजीकरण की विशेषताएँ
- व्यक्ति का समाजीकरण करने वाली संस्थाएँ
- संस्कृति, इसकी विशेषताएँ, प्रकृति और इसके प्रकार
- सामाजिक जीवन में संस्कृति का महत्व
- सभ्यता का अर्थ और इसकी परिभाषाएँ
- सामाजिक नियन्त्रण की विशेषताएँ
- सामाजिक नियन्त्रण के उद्देश्य और मूल्यों का महत्व

NOTES

bdkÃ&5 ifjp;] 0;fä vkSj lekt dk lEcU/k] fl)kUr] 0;fä fd lekt ij fuHkZjrk eu";; ij lekt dk çHkko

मानव प्रकृति का निर्माण केवल समाज में ही सम्भव है। व्यक्ति और समाज में एकतरफा सम्बन्ध नहीं है। फिर भी एक को समझने के लिए दोनों आवश्यक हैं। अरस्तू का यह कथन पूर्णतः सत्य है कि "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।' उसमें अपने साथियों के साथ सामान्य रूप से जीवन व्यतीत करने की क्षमता पाई जाती है। मानव का प्रारम्भ से लेकर आज तक का इतिहास इस बात का साक्षी है कि वह समाज या समूह में ही रहता आया है। वास्तव में व्यक्ति की समाज के बिना और समाज की व्यक्ति के बिना कल्पना भी नहीं की जा सकती है। दोनों में घनिष्ठता है, परस्पर निर्भरता है।

मानव जीवन के दो प्रमुख आधार हैं-

1. प्राणिशास्त्रीय आधार,
2. सामाजिक आधार।

जन्म के समय बालक को आनुवांशिक के रूप में माता-पिता से जो कुछ शारीरिक तथा मानसिक क्षमताएँ प्राप्त होती हैं, उन्हीं के आधार पर बालक का विकास होता है। वह चलना, खाना-पीना, बोलना, व्यवहार करना, पढ़ना-लिखना, विचारों का आदान-प्रदान करना और उसी प्रकार की असंख्य बातें समाज में सीखता है। यहीं पर उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। स्पष्ट है कि प्राणिशास्त्रीय प्राणी को सामाजिक प्राणी के रूप में बदलने का कार्य समाज करता है परन्तु बिना प्राणीशास्त्री प्राणी के रूप में व्यक्ति को प्राप्त किए समाज किसे सामाजिक प्राणी बनाएगा? अतः समाज के लिए व्यक्ति का होना परम आवश्यक है। व्यक्ति के बीच पनपने वाले सम्बन्धों को ही सामाजिक सम्बन्धों का जाल कहा गया है। अतः व्यक्ति के विकास के लिए समाज आवश्यक है। वहीं समाज के निरन्तर विकास के लिए व्यक्ति आवश्यक एक की अनुपस्थिति दूसरे को पूर्णता प्रदान नहीं करती।

व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध

व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों को लेकर विद्वानों में काफी मतभेद हैं। इस सम्बन्ध में दो प्रमुख सिद्धान्तों पर विचार करना आवश्यक है-

1. सामाजिक समझौते का सिद्धान्त,
2. समाज का सावयवी सिद्धान्त।

1. सामाजिक समझौते का सिद्धान्त (Social Contract Theory)

यह सिद्धान्त हॉब्स, लॉक तथा रूसो के विचारों पर आधारित हैं। इन दार्शनिकों के आधार पर मानव इतिहास को दो भागों में बाँटा गया है-1. प्राकृतिक अवस्था, 2. समझौते के बाद कार्य। प्रारम्भ में व्यक्ति प्राकृतिक अवस्था में रहता था अर्थात् वह पूर्णतः प्रकृति पर आश्रित था और उसी की सहायता से अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। इस प्राकृतिक अवस्था में जनसंसंख्या की वृद्धि के साथ मनुष्य के जीवन में अनेक कठिनाइयाँ आ गई। वस्तुतः उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कठिन परिश्रम करना पड़ा। धीरे-धीरे मनुष्य भूमि पर अधिकार करने लगा। जो व्यक्ति जितना शक्तिशाली था; उसने उसी अनुपात में भूमि पर कब्जा कर लिया। भूमि पर इस प्रकार अधिकार जमाने के फलस्वरूप व्यक्तिवादिता को प्रोत्साहन मिला तथा इस प्रकार व्यक्ति धनी और निर्धन दो भागों में बँट गया। पहला-धनी वर्ग बहुत शक्तिशाली था तथा अधिकांश भूमि पर उसका कब्जा था। दूसरा वर्ग निर्धन और कमजोर था, उसके पास

या तो भूमि नहीं थी या बहुत कम मात्रा में भूमि थी। शक्तिशाली लोग मनमानी करने लगे, ऐसी स्थिति में मनुष्यों की स्वतन्त्रता खतरे में पड़ गई।

रूसो के अनुसार ऐसी स्थिति से बचने के लिए मनुष्यों ने आपस में मिल-बैठकर समझौता किया और एक समाज की नींव रखी। इस समझौते में प्रत्येक की स्वतन्त्रता की रक्षा की बात सोची गई।

इस समझौते के आधार पर निर्मित व्यवस्था को ही समाज कहा गया है। जो व्यक्ति दूसरे की स्वतन्त्रता को बाधित करने का प्रयास करता है; उसे सजा देने का प्रावधान भी इस समझौते में किया गया। हॉब्स ने बताया कि प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य का जीवन एकाकी, क्रूर, अप्रिय तथा अल्प था। इस स्थिति से छुटकारा पाने के लिए तथा अपनी रक्षा तथा समान हितों की पूर्ति के लिए व्यक्ति ने समाज की स्थापना की। समान उद्देश्यों को लेकर ही समाज की रचना की गई। इस सिद्धान्त के समर्थकों का मानना है कि व्यक्ति ने ही जान-बूझकर समाज की स्थापना की है। अतः ऐसी स्थिति में समाज नहीं वरन् व्यक्ति प्रमुख है। व्यक्तिवादिता के अधिक बढ़ जाने से समाज में संघर्ष, द्वेष, तनाव, झगड़े बढ़ते गए। व्यक्ति के जीवन में असुरक्षा बढ़ गई और जीवन संघर्षमय हो गया। इस स्थिति से बचने के लिए तथा अपनी रक्षा और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही व्यक्ति ने सोच-विचार कर समाज की स्थापना की। इस प्रकार समाज की स्थापना व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक साधन के रूप में की गई। व्यक्ति का अस्तित्व तो समाज में पहले भी था, व्यक्तियों ने ही समझौते के आधार पर समाज की नींव रखी। अतः व्यक्ति प्रमुख और समाज गौण है इस दृष्टि से इस सिद्धान्त के समर्थकों ने समाज की तुलना में व्यक्ति को प्रधानता दी।

आलोचना (Criticism)-वर्तमान में समाजिक समझौते के इस सिद्धान्त को कोई भी विद्वान या दार्शनिक मानने को तैयार नहीं है। इस सिद्धान्त में अनेक खामियाँ हैं-

1. मानव इतिहास में कभी ऐसा समय भी रहा हो जब मनुष्य का अस्तित्व रहा हो और समाज का अस्तित्व न हो, इस बात का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता।
2. यदि यह मान भी लिया जाए कि मानव जीवन की प्रारम्भिक अवस्था में व्यक्ति जंगली, असभ्य एवं बर्बर था तो यहाँ प्रश्न उठता है कि ऐसी दशा में उसके द्वारा सोच-विचार कर समाज जैसी व्यवस्था की रचना कैसे की जा सकती है।
3. यह सिद्धान्त व्यक्ति एवं समाज को दो अलग-अलग वस्तुएँ मानकर चलता है। वास्तविकता यह है कि व्यक्ति एवं समाज एक दूसरे के पूरक हैं और उनमें घनिष्ठता का सम्बन्ध है।
4. यह सिद्धान्त समाज को व्यक्तियों द्वारा निर्मित एक कृत्रिम रचना मानकर चलता है, परन्तु इस मान्यता के कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं।
5. यह सिद्धान्त व्यक्ति और समाज के बीच समझौते का सम्बन्ध मानता है, जबकि वास्तविकता इससे सर्वथा भिन्न है।

(2) समाज का सावयवी सिद्धान्त (The organismic theory of society)

जहाँ सामाजिक समझौते का सिद्धान्त व्यक्ति को प्रधानता देकर समाज को गौण मानता है, वहीं सावयवी सिद्धान्त समाज को प्रधानता देकर व्यक्ति को गौण मानने का पक्षधर है। यह सिद्धान्त समाज से अलग व्यक्ति के अस्तित्व को कहीं कोई मान्यता नहीं देता। इस सिद्धान्त का यह मानना है कि सब कुछ समाज ही है; व्यक्ति तो उसका अंग मात्र है। इस सिद्धान्त में समाज को एक शरीर के रूप में माना गया है। शरीर के विभिन्न अंग हाथ, पाँव, नाक, कान, आदि हैं। इन अंगों का शरीर के साथ जुड़े होने तक ही अस्तित्व है।

शरीर से पृथक् होने पर किसी भी अंग की पृथक् सत्ता या अस्तित्व नहीं रहता। शरीर से अलग होनेपर कोई भी अंग प्राकृतिक रूप से कार्य नहीं कर सकता। इसी प्रकार विभिन्न व्यक्ति समाज के अंग हैं, जो अपनी योग्यता तथा विशेष प्रशिक्षण के आधार पर अलग-अलग कार्य करते हैं। इस प्रकार व्यक्ति का समाज से पृथक् कोई अस्तित्व एवं महत्त्व नहीं है। यह सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंगों में पारस्परिक अन्तर्निर्भरता पाई जाती है और सभी अंग एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं, इसी प्रकार समाज के विभिन्न अंगों में भी पारस्परिक निर्भरता पाई जाती है।

हरबर्ट स्पेन्सर का इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में विशेष योगदान है। उनके अनुसार समाज एक जीवन रचना है। स्पेन्सर ने समाज को एक जैविक प्रणाली या एक विशालकाय शरीर माना है; जिसकी अपनी एक संरचना और कार्य होते हैं। समाज रूपी शरीर के कोष्ठ व्यक्ति हैं। उसके विभिन्न अवयव तथा व्यवस्थाएँ, समितियाँ और संस्थाएँ हैं। इस सिद्धान्त के समर्थकों में से अनेक यह मानते हैं कि शरीर के साथ समाज भी जन्म लेता है। मूलतः यह सिद्धान्त मानता है कि जिस प्रकार शरीर से पृथक् किसी भी अंग का कोई महत्त्व नहीं है; उसी प्रकार समाज के बिना व्यक्ति का कोई महत्त्व एवं अस्तित्व नहीं है।

आलोचना (Criticism)-समाज का सावयवी सिद्धान्त एक एकांगी सिद्धान्त है। यह तथ्यों की अनदेखी करता है और व्यक्ति की तुलना में समाज को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देता है। इस अप्रामाणिक सिद्धान्त में अनेक कमियाँ हैं-

1. व्यक्ति मूर्त है जबकि समाज अमूर्त है, शारीरिक ढाँचा निश्चित नियमों के आधार पर कार्य करता है; जबकि समाज संचालन में इतने निश्चित नियम नहीं पाए जाते।
2. व्यक्ति का अपना स्वतन्त्र मन और मस्तिष्क होता है जिसकी सहायता से वह सोचता और विचारता है। वास्तव में समाज का इस प्रकार का कोई मन या मस्तिष्क नहीं होता जो पूरे समाज के लिए सोचता, विचारता और निर्णय लेता हो।
3. शरीर के कोष्ठों और समाज के कोष्ठों में मौलिक अन्तर पाया जाता है। शरीर के कोष्ठ आपस में इतने घुले-मिले रहते हैं कि उन्हें शरीर से पृथक् नहीं किया जा सकता। पृथक् करने पर उन कोष्ठों का अपना कोई अस्तित्व नहीं रहता। समाज के सम्बन्ध में यह तथ्य सही नहीं रहता। समाज के कोष्ठ व्यक्ति हैं जो समाज के साथ घुल-मिल जाते हैं परन्तु फिर भी उनका स्वतन्त्र अस्तित्व बना रहता है।
4. शारीरिक ढाँचे और समाज की तुलना इस आधार पर की जा सकती है कि शारीरिक ढाँचे के रूप में व्यक्ति के समान समाज का जन्म होता है और विभिन्न अवस्थाओं से गुजरता हुआ अन्त में मृत्यु को प्राप्त होता है। ऐसे तथ्यों के आधार पर समाज के सम्बन्ध में यह धारणा पुष्ट नहीं होती।

उपर्युक्त दोनों सिद्धान्त अपूर्ण, असामाजिक एवं दोषयुक्त हैं। इनके आधार पर व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध को स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। वास्तविकता यह है कि व्यक्ति और समाज के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। एक को दूसरे से पूर्णतः पृथक् नहीं किया जा सकता। व्यक्ति के बिना समाज और समाज के बिना व्यक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती है। इस सम्बन्ध में मैकाइवर और पेज (MacIver and Page) ने कहा है कि “समाज एवं व्यक्ति के सम्बन्ध को स्पष्ट करने वाला कोई भी सिद्धान्त न तो पूर्णतः व्यक्तिवादी है और न ही समाजवादी है, क्योंकि समाज एवं व्यक्ति एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं और एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं।’

व्यक्ति की समाज पर निर्भरता-(मानव समाज से अलग रहे असामाजिक मनुष्यों के कुछ उदाहरण)

अरस्तु ने मानव को सामाजिक प्राणी कहा है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य समाज का अभिन्न अंग है। उसकी समाज में रहने की प्रवृत्ति है। यदि उसे समाज से पृथक् कर दिया जाए तो वह अपने मानवोचित गुणों को खो देता है। व्यक्ति के अन्दर जन्म के समय क्षमताएँ बीज के रूप में पड़ी रहती हैं परन्तु इन क्षमताओं का विकास समाज में ही हो पाता है। प्रारम्भ में बच्चा प्राणिशास्त्रीय प्राणी होता है। समाज में ही उसे अच्छे बुरे का ज्ञान करा दिया जाता है। बालक जिस समूह में पलता है; उसी के अनुरूप ही समझने लगता है। समूह ने जैसा उसे सिखाया है वैसा ही उसका व्यक्तित्व बन जाता है।

व्यक्तित्व के अन्तर्गत व्यक्ति के गुण, आचार-विचार आदि सम्मिलित हैं। गुण वह समाज में सीखता है। समाज उसे पूर्वनिर्मित व्यवहार प्रतिमान (Readymade behaviour patterns) प्रदान करता है; जिससे व्यक्ति को समाज से अनुकूल करने में सहायता मिलती है। बहुत से उदाहरण हैं जो यह पुष्टि करते हैं कि मनुष्य को समाज से पृथक् कर दिया जाए तो वह निरा पशु ही बन जाता है। मनुष्य ही व्यक्ति को जीवशास्त्रीय प्राणी से मनुष्य बनाता है। समाज और व्यक्ति के सम्बन्ध दर्शाने हेतु कुछ असामाजिकृत व्यक्तियों के उदाहरण प्रस्तुत हैं-

1. कैस्पर हाजर-सन् 1812 में आस्ट्रिया में उत्पन्न हुए इस बालक को राजनैतिक कारणों से समाज से पृथक् कर दिया गया। यह बालक सन् 1828 में न्यूरेमवर्ग शहर में 16 वर्ष की आयु में घूमता हुआ मिला; उस समय वह बोल नहीं पाता था, चल नहीं सकता था, बेजानदार चीजों को ही जानदार समझता था। मानव सम्पर्क के पाँच वर्ष बाद उसकी मृत्यु हो गई; तब उसके मस्तिष्क का परीक्षण किया गया तो ज्ञात हुआ कि समाज से अलग हो जाने के कारण उसके मस्तिष्क का विकास नहीं हो पाया था। कैस्पर हाजर समाज के अभाव में मानवोचित गुणों को विकसित करने में असफल रहा।

2. अमला और कमला-दो हिन्दू लड़कियों अमला और कमला को सन् 1920 ई. में एक ईसाई पादरी ने एक भेड़िये की गुफा से प्राप्त किया था। इन लड़कियों को भेड़िया छोटी आयु में उठा ले गया था। इसने इन बालिकाओं को मारा नहीं बल्कि उनका पालन-पोषण किया, जब वे मानव के सम्पर्क में आईं; तब छोटी लड़की अमला दो साल की और बड़ी लड़की कमला आठ वर्ष की थी। ये लड़कियाँ हाथों एवं पैरों को जमीन पर टेककर पशु के भाँति चलती थीं, कच्चा माँस खाती थीं और मनुष्यों से घृणा करती थीं। इन लड़कियों के मानव सम्पर्क में आने पर छोटी लड़की अमरा शीघ्र मर गई, बड़ी लड़की कमला सत्रह वर्ष तक जीवित रही। नौ वर्ष तक मानव सम्पर्क में रखकर उसे प्रशिक्षित किया गया तो उसने कपड़े पहनना, कुछ-कुछ बोलना, सीधे खड़े होना, भोजन करना आदि सीख लिया था। इस उदाहरण से भी स्पष्ट है कि समाज से इन दोनों लड़कियों के अलग हो जाने के कारण इनमें मानवोचित गुण विकसित नहीं हो पाए थे।

3. अन्ना (Anna) अन्ना सन् 1933 में जन्मी एक अवैध लड़की थी; जिसे अलग कमरे में रखा गया था। अन्ना को पालने के लिए कमरे में केवल दूध दिया जाता था। उसे किसी प्रकार का प्रशिक्षण नहीं दिया गया था। वह बोल नहीं पाती थी। वह अपने चारों ओर की वस्तुओं के प्रति उदासीन रहती थी। पाँच वर्ष की अवस्था में जब वह मानव सम्पर्क में आई तो उसकी देखभाल, प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था की गई, जिसके परिणामस्वरूप उसका विकास तेजी से होने लगा। परन्तु वह 1942 में ही मर गई। इस उदाहरण से भी स्पष्ट है कि सामाजिक दशाएँ मानवीकरण के लिए अपरिहार्य हैं।

4. ईशावेला-सन् 1938 में सात वर्ष की आयु में एक अवैध लड़की ईशावेला मिली; जिसके परिवार में एक गूँगी और बहरी माँ के अतिरिक्त कोई नहीं था। अवैध सन्तान के कारण उसे समाज से पृथक् कर दिया गया। वह मनुष्यों से भी पशुओं की तरह डरा करती थी। सात वर्ष की अवस्था में उसमें काफी परिवर्तन आया; वह बोलने लगी, व्यक्तियों से प्रश्न पूछने लगी। उसकी सन्तोषजनक प्रगति को ध्यान में रखकर उसे एक पब्लिक स्कूल में पढ़ने हेतु प्रवेश दिया गया तो उसने छठी कक्षा सत्रह वर्ष की अवस्था में उत्तीर्ण कर ली। अतः स्पष्ट है कि ईशावेला के बीज रूप में अन्तनिर्हित गुण समाज के पर्यावरण में ही विकसित हो सके।

5. विक्टर अवेरान (Aveyron-France) के जंगलों में एक ऐसा जंगली बालक मिला; जो हाथ और पैरों से पशुओं के समान चलता था, भाषा का अभाव था, केवल पशुओं की भाँति ध्वनि कर सकता था, पशुओं की तरह काटने एवं डराने हेतु प्रक्रिया करता था, खाना भी नहीं खाता था। पीनल फ्रांसीसी मनोवैज्ञानिक ने उसे जड़ समझ कर छोड़ दिया तो इटार्ड (Itard) ने उसे पाला पोसा। उन्होंने उसे विक्टर नाम से सम्बोधित किया। उनके अथक् परिश्रम के परिणामस्वरूप वह गर्मी व जाड़े में भेद करना, नहाना, पहनना, चलना आदि सीख गया, परन्तु बोलने की क्षमता उसमें नहीं आ सकी। वह इशारों के द्वारा ही अपने विचार प्रकट कर सकता था। इस सम्बन्ध में इटार्ड (Itarid) का कहना है कि "बचपन में समाज के अभाव ने बच्चे में इस सीमा तक अड़चन तथा पिछड़ापन उत्पन्न कर दिया था कि इतनी अधिक चेष्टाओं के फलस्वरूप भी बहुत कम फल प्राप्त हुआ था।"

6. रामू लखनऊ में सन् 1954 में रामू नामक एक ऐसे बालक का पता चला जो भेड़ियों की माँद में पला था। उसका व्यवहार पूर्णतः भेड़िये के समान था। उसमें मानवोचित गुणों का अभाव था। वह केवल पशुओं की तरह चल सकता था, कच्चा माँस खाता था, पशुओं की तरह गुर्राता था, मनुष्यों के साथ डरना और पशुओं के साथ खुश रहना उसकी आदत थी। यह बालक करीब 14 वर्ष तक जीवित रहा। इस अवधि में उसे मनुष्यों के समान व्यवहार सिखाने का प्रयत्न किया गया, परन्तु सफलता नहीं मिल सकी। समाज के अभाव में रामू भेड़िया बालक भी निरा-पशु ही बना रह गया। उसमें मानव जैसे गुण नहीं विकसित किए जा सके।

7. परशुराम फिरोजाबाद रेलवे स्टेशन पर 8 वर्ष की आयु का सन् 1956 में मिला; यह बालक बोल नहीं सकता था, पशुओं के समान व्यवहार करता था, जिसे देखता उसे काटने दौड़ पड़ता था। उसे जंजीरों से बाँधकर रखा जाता था। वह कच्चा माँस खाता था। इससे भी स्पष्ट है कि मानव सम्पर्क के अभाव में उसमें मानवीय गुणों का विकास नहीं हो पाया।

उपर्युक्त सभी उदाहरणों से स्पष्ट है कि यदि बालक को अपने जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में सामाजिक पर्यावरण नहीं मिल पाए तो ऐसी स्थिति में उसमें मानवोचित गुणों का विकास नहीं हो पाता है। समाज से पृथक् मनुष्य केवल पशु के समान है। कई अध्ययनों से यह स्पष्ट है कि बालक के"स्व' या "आत्म (Self) के विकास के लिए आवश्यक है कि उसे अन्य लोगों के सम्पर्क में रहने और आदान-प्रदान करने का अवसर प्राप्त हो।

व्यक्ति और समाज के बीच सम्बन्ध-व्यक्ति और समाज दोनों ही पारस्परिक रूप से एक-दूसरे पर निर्भर हैं। इन दोनों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण इन्हें अलग नहीं किया जा सकता है। इन दोनों के मध्य जो सम्बन्ध है उसे समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम यह जान लें कि व्यक्ति पर समाज का और समाज का व्यक्ति पर क्या प्रभाव पड़ता है।

मनुष्य पर समाज का प्रभाव (Impact of Society on Man)

मनुष्य की समाज पर निर्भरता व्यक्त करने की दृष्टि से मैकाइवर और पेज ने तीन आधार निर्धारित किए हैं- 1. समाज से अलग करने वाले बच्चों के उदाहरण से स्पष्ट है कि समाज के बिना बच्चा पशुओं के समान व्यवहार करता है। उसमें मानवीय गुणों का विकास समाज मे ही सम्भव है। 2. व्यक्ति के आत्म (Self) का विकास समाज में ही होता है। व्यक्ति के व्यवहार का निर्धारण सामाजिक विरासत के आध र पर ही सम्भव है।

1. समाज से पृथक् रहे बच्चों के उदाहरण-इसके अन्तर्गत कमला-अमला, विक्टर, कैस्पर हाजर, रामू आदि अनेक ऐसे असामाजिक बालकों के उदाहरण मिलते हैं; जिनमें समाज से रहित वातावरण मिलने पर मानवीय गुणों का विकास नहीं हो पाता। वे नितान्त पशु के समान ही व्यवहार करते हैं।

2. आत्म विकास एक प्राणीशास्त्रीय प्राणी का सामाजिक प्राणी बनना आत्म के विकास पर निर्भर करता है। आत्म का अर्थ यह है कि व्यक्ति का स्वयं के प्रति और दूसरे व्यक्तियों का उसके प्रति क्या विचार है। दूसरे व्यक्ति उसके प्रति क्या सोचते हैं। दूसरे व्यक्तियों की उसके प्रति क्या धारणा है। इन्हीं सब विचारों के आधार पर व्यक्ति अपने स्वयं के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में क्या धारणा बनाता है। मनुष्य आत्म विकास के द्वारा ही एक पशु से सामाजिक प्राणी बनता है। आत्म विकास की प्रक्रिया निरन्तर जीवन भर चलती रहती है। मनुष्य अपने जैसे अन्य लोगों के साथ रहकर तथा अनेक समूहों का सदस्य बनकर समाज में व्यवहार करना सीखता है। यही वह प्लेटफार्म है, जहाँ वह जान पाता है कि उससे किस प्रकार के व्यवहार की आशा की जाती है और उसे किस प्रकार का व्यवहार करना चहिए। मनुष्य अन्य लोगों के साथ सम्बन्ध स्थापित करके और उनके साथ सामाजिक अन्तः क्रियाएँ करता हुआ बहुत कुछ सीख जाता है। वह समाज में किस प्रकार का व्यवहार करता है, उसी के अनुसार समाज उसे अच्छा या बुरा, उचित या अनुचित कहने लगता है। इसी के आधार पर बालक अपने सम्बन्ध में एक धारणा बना लेता है। यही धारणा उसका "आत्म' है। जिसका विकास समाज के अन्य लोगों के बीच होता है।

3. व्यक्ति की सामाजिक विरासत पर निर्भरता-मनुष्य सामाजिक विरासत (संस्कृति) की देन है। सामाजिक विरासत के साथ हमारा सम्बन्ध उसी प्रकार का है जैसा बीज और जमीन का सम्बन्ध है। सामाजिक विरासत के आधार पर ही हमारे विश्वास, मूल्य, प्रवृत्तियाँ, रीति-रिवाज, परम्पराएँ, रूढ़ियाँ, आदर्श आदि बनते हैं। आज जो कुछ भी हम जानते हैं, जो कुछ हमारी संस्कृति है, जो कुछ हमारा संचित ज्ञान है; वही सब कुछ हमारी सामाजिक विरासत है। सामाजिक विरासत पूर्व के सैकड़ों हजारों वर्षों के प्रयत्नों, परीक्षणों एवं सफल अनुभवों का परिणाम है। इसी के आधार पर हम पशु से मानव बनते हैं। यही सीखने में सक्षमता प्राप्त करते हैं कि हमें किस अवसर पर किसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए।

bdkÃ&6 lkethdj.k% vFk ,oa ifjHkk"kk] çfØ;k fo'k"krk, lkekthdj.k dk çeq[k vfHkdj.k ,oa lLFkk,¡

मानव शिशु जन्म के समय समाज के रीति-रिवाजों, परम्पराओं, प्रथाओं, मूल्यों और संस्कृति के विभिन्न उपायों से अनभिज्ञ होता है। वह यह नहीं जानता कि उसे किसके प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिए, समाज उससे क्या अपेक्षाएँ रखता है। शिशु कुछ शारीरिक क्षमताओं के साथ पैदा होता है। इन क्षमताओं के कारण ही वह बहुत कुछ सीख लेता है, समाज का क्रियाशील सदस्य बन जाता है और अन्ततः संस्कृति ग्रहण कर लेता है। यह सीखने की क्षमता सामाजिक सम्पर्क से ही विकसित होती है। सामाजिक सम्पर्क के कारण

ही व्यक्ति समाज के रीति-रिवाजों, मूल्यों, आदर्शों और संस्कृति के विभिन्न गुणों को सीखता है और एक सामाजिक प्राणी का दर्जा प्राप्त करता है। अतः अरस्तू का यह कथन सदैव ही सत्य है कि "मनुष्य एक सार्वजनिक प्राणी है।"मनुष्य को केवल सामाजिक प्राणी कह देने से हमारी जिज्ञासा समाप्त नहीं हो जाती। हमारे सामने सबसे प्रमुख समस्या यह आती है कि मनुष्य किस प्रकार एक सामाजिक प्राणी है? व्यक्ति किन्हीं परिस्थितियों के कारण सामाजिक प्राणी बना है अथवा ऐसा प्राकृतिक रूप से है? क्या समाज के बाहर भी व्यक्ति का अस्तित्व सम्भव है? यदि नहीं तो वह साधन कौन-से हैं; जिनसे व्यक्ति समाज के साथ अनुकूलन करना सीखता है?

आज सभी समाज शास्त्री और मनोवैज्ञानिक यह स्वीकार करते हैं कि "व्यक्ति' और "समाज' के मध्य पारस्परिकता का सम्बन्ध है। मनुष्य इसलिए सामाजिक प्राणी है कि वह समाज में रहकर अन्य व्यक्तियों से व्यवहार को सीखता है और सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करता है। सामाजिक सीख की इस प्रक्रिया को ही समाजीकरण (Socialization) कहते हैं। इस प्रकार समाजीकरण की प्रक्रिया एक प्राणिशास्त्रीय प्राणी को सामाजिक प्राणी में बदल देती है। मनुष्य को पशु स्तर से ऊँचा उठाकर एक सामाजिक प्राणी बनाती हैं अतः यह मनुष्य को संज्ञा प्रदान करने वाली प्रक्रिया है। एक व्यक्ति को मनुष्य बनाने का श्रेय "समाजीकरण की प्रक्रिया' को है। मनुष्य से यदि मानवोचित व्यवहार की आशा करनी है तो यह आवश्यक है कि उसका "समाजीकरण' किया जाए। मैक्डूगल आदि विचारकों का भी मानना है कि मूल प्रवृत्ति और सामूहिकता में प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। उन विचारकों के अनुसार सामाजिकता जन्म से ही होती है। जिन व्यक्तियों को मानव संसर्ग नहीं मिला वे या तो नष्ट हो गए, और यदि वे कुछ दिनों तक जीवित भी बचे रहे तो उनका व्यक्तित्व विघटित पाया गया। एक सामाजिक व्यक्ति बनने तथा मानवीय व्यवहारों को सीखने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति समाज में रहे।

समाजीकरण का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Socialization)- 'समाजीकरण' की अवधारणा का प्रयोग अँग्रेजी भाषा में लगभग 1828 में प्रारम्भ हुआ। शाब्दिक दृष्टि से समाजीकरण (Socialization) का अर्थ "नवजात शिशु को सामाजिक व्यक्ति बनाने की प्रक्रिया' से है। इसके दो पक्ष हैं-प्रथम व्यवहारिक, द्वितीयक सैद्धान्तिक। व्यावहारिक दृष्टि से इसका अभिप्राय बच्चों के लालन-पालन की समस्या से है अर्थात् अपने बच्चों का पालन-पोषण इस प्रकार किया जाए कि वे अपने समाज के सक्षम सदस्य बन सकें। सैद्धान्तिक दृष्टि से हम इसमें यह समझने का प्रयास करते हैं कि किस प्रकार सामाजिक अन्तःक्रिया में व्यक्ति की जैविक क्षमताओं; स्वत्व, व्यक्तित्व आदि सामाजिक दृष्टि से अर्थपूर्ण व्यवहार का विकास होता है।

समाजीकरण शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया गया है। अर्थशास्त्री और मुख्यतः मार्क्सवादी अर्थशास्त्री समाजीकरण शब्द का प्रयोग उत्पादन के साधनों एवं सम्पत्ति व समाज के अधिकार के रूप में करते हैं। उदाहरणार्थ, वे कहते हैं कारखानों, बैंकों एवं भूमि का समाजीकरण किया जाना चाहिए। इसका अर्थ है; इन पर समाज का स्वामित्व होना चाहिए। किम्बल यंग (Kimball Young) ने समाजीकरण शब्द के तीन भिन्न-भिन्न अर्थों का उल्लेख किया है-

i. सामाजिक सुधारक एवं उपदेशक इस शब्द का प्रयोग बच्चों एवं युवकों को नैतिक प्रशिक्षण (Moral Training) देने के अर्थ में करते हैं।

ii. बाल मनोविज्ञान में संकीर्ण अर्थ में इस शब्द का प्रयोग बच्चों को सामाजिक प्रशिक्षण (Social Training) देने के अर्थ में किया गया है।

iii. समाजशास्त्र में इसका प्रयोग उन प्रक्रियाओं के लिए किया जाता है; जिनके द्वारा व्यक्ति को सामाजिक-सांस्कृतिक संसार से परिचित कराया जाता है। इस अर्थ में समाजीकरण वह विधि है; जिसके द्वारा संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित किया जाता है। इसके द्वारा व्यक्ति अपने समूह एवं समाज के मूल्यों, जनरीतियों, आदर्शों, लोकाचारों एवं सामाजिक उद्देश्यों को सीखता है। समाजीकरण की विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गयी परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं-

- गिलिन और गिलिन (Gillin and Gillin) ने अपनी पुस्तक 'Cultural Sociology' में समाजीकरण को परिभाषित करते हुए लिखा है कि, "समाजीकरण से हमारा तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिसके द्वारा व्यक्ति, समूह में एक क्रियाशील सदस्य बनता है समूह की कार्यविधियों से समन्वय स्थापित करता है, उसकी परम्पराओं का ध्यान रखता है और सामाजिक परिस्थितियों से अनुकूलन करके अपने साथियों के प्रति सहनशक्ति की भावना विकसित करता है।"
- स्टोवर्ट एवं ग्लिन (Stovert and Glyinn) के अनुसार, "समाजीकरण वह प्रक्रिया है; जिसके द्वारा लोग अपनी संस्कृति के विश्वासों, अभिवृत्तियों, मूल्यों और प्रथाओं को ग्रहण करते हैं।"
- न्यूमेयर (Neumeyer) के अनुसार, "एक व्यक्ति के सामाजिक प्राणी के रूप में परिवर्तित होने की प्रक्रिया का नाम ही समाजीकरण है।"
- ब्रूम तथा सेल्जनिक (Broom and Selznick) के अनुसार, "समाजीकरण के दो पूरक अर्थ हैं-संस्कृति का हस्तान्तरण और व्यक्तित्व का विकास।" इससे स्पष्ट है कि समाजीकरण द्वारा एक व्यक्ति अपनी संस्कृति को सीखता है। संस्कृति को सीखने से ही बालक के व्यक्तित्व का विकास होता है।
- एम. हारालोम्बोस (N. Haralombos) के अनुसार, "वह प्रक्रिया जिसके द्वारा व्यक्ति अपने समाज की संस्कृति को सीखता है, समाजीकरण के नाम से जानी जाती है।"
- ग्रीन (A. W. Green) "समाजीकरण वह प्रक्रिया है; जिसके द्वारा बालक सांस्कृतिक विशेषताओं, आत्मपन और व्यक्तित्व को प्राप्त करता है।"
- किम्बाल यंग (Kimball Young) "समाजीकरण वह प्रक्रिया है; जिसके द्वारा व्यक्ति सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रवेश करता है तथा समाज के विभिन्न समूहों का सदस्य बनता है और जिसके द्वारा उसे समाज के मूल्यों, मानकों को स्वीकार करने की प्रेरणा मिलती है।"
- जॉनसन (Johnson) "समाजीकरण सीखने की वह प्रक्रिया है, जो सीखने वालों को सामाजिक भूमिकाओं का निर्वाह करने योग्य बनाती है।"
- फिरचर (Fitcher) "समाजीकरण वह प्रक्रिया है; जिसके द्वारा व्यक्ति सामाजिक व्यवहारों को स्वीकार करता है और उनसे अनुकूलन करना सीखता है।"

उपर्युक्त विद्वानों की परिभाषाओं से स्पष्ट है कि समाजीकरण सीखने की प्रक्रिया है; जिसके द्वारा व्यक्ति समूह अथवा समाज की सामाजिक-सांस्कृतिक विशेषताओं को ग्रहण करता है, अपने व्यक्तित्व का विकास करता है और समाज का क्रियाशील सदस्य बनता है। समाजीकरण द्वारा बच्चा सामाजिक प्रतिमानों को सीखकर उनके अनुरूप आचरण करता है; जिससे समाज में नियन्त्रण बना रहता है।

समाजीकरण सीखने की वह प्रक्रिया है; जो जीवनपर्यन्त चलती रहती है। अतः हम कह सकते हैं कि बालक जिस प्रक्रिया के माध्यम से किसी समाज के मूल्यों और प्रतिमानों को आत्मसात करता है या उसे सीखता है; उसे ही समाजीकरण की प्रक्रिया के नाम से जाना जाता है। इस सीखने के आधार पर ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है। अधिकांशतः मानवीय व्यवहार, सीखने की प्रक्रिया का ही परिणाम है।

समाजीकरण की प्रक्रिया (Process of Socialisation)-समाजीकरण की प्रक्रिया बच्चे के जन्म के बाद से ही शुरू हो जाती है। विभिन्न अवस्थाओं से गुजरकर बच्चा विभिन्न प्रकार की बातें सीखता है। यह कार्य परिवार, पड़ोस, मित्र-मण्डली, स्कूल और अनेक द्वितीयक संस्थाओं द्वारा किया जाता है। समाजीकरण का कार्य विभिन्न स्तरों या सोपानों में होता है। इन सोपानों के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों एवं समाजशास्त्रियों में मतभेद हैं।

1. मौखिक अवस्था (Oral Stage) यह समाजीकरण की प्रथम अवस्था है। गर्भ में भ्रूण आरामपूर्वक रहता है। जन्म के समय शिशु प्रथम संकट का सामना करता है। उसे साँस लेनी होती है, उसे पेट भरने के लिए श्रम करना पड़ता है, उसे सर्दी-गर्मी, गीलेपन और अन्य असुविधाओं का सामना करना पड़ता है। वह रोता और चिल्लाता है। यह समाजीकरण का प्रथम चरण है, जिसमें शिशु मौखिक रूप से दूसरों पर निर्भर रहता है। बच्चा अपने भोजन के समय के बारें में निश्चित अपेक्षाएँ बनाने लगता है और अपनी देखभाल के लिए संकेत देना सीख जाता है। शिशु अपना दुख-सुख मुँह के माध्यम से या हावभाव के द्वारा प्रकट करता है। इसीलिए इसे मौखिक अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में बच्चा अपनी माँ के अतिरिक्त परिवार के किसी अन्य सदस्य को नहीं पहचान पाता। यह अवस्था लगभग 1.5-2. वर्ष तक रहती है।

2. शैशव (शौव अवस्था) (Anal Stage)-यह अवस्था लगभग 1.5-2 वर्ष से प्रारम्भ होकर 3-4 वर्ष तक चलती है। इस अवस्था में शिशु से यह आशा की जाने लगती है कि वह अपने को थोड़ा बहुत सँभाले, इस समय उसे शौच प्रशिक्षण दिया जाता है। बच्चे को इस बात का ज्ञान कराया जाता है कि उसे कब और कहाँ शौच करना है। हाथ साफ करना, कपड़े गन्दे न करना आदि इसी अवस्था में सिखाया जाता है। सभी समाजों में शिशु को गलत और सही का भेद करना सिखाया जाता है। शिशु को सही काम के लिए पुरस्कृत करना और गलत काम के लिए दण्डित करना भी श्रेयस्कर समझा जाता है।

3. तादात्मीकरण अवस्था (Identification Stage)-यह अवस्था सामान्यतः 4 वर्ष की आयु से लेकर 12-13 वर्ष तक की आयु तक चलती है। इस अवस्था में बच्चा परिवार का पूर्णतः सदस्य बन जाता है। इस अवस्था में बच्चा यद्यपि लड़के या लड़की के यौनिक भेद और शारीरिक भिन्नताओं को देख अवश्य पाता है, लेकिन उन अंगों के यौन सम्बन्धी प्रकार्यों का उसे ज्ञान नहीं होता है। धीरे-धीरे उनमें यौन भावना अव्यक्त रूप में विकसित होने लगती है। बालक से यह अपेक्षा की जाती है कि वह यौन के अनुरूप अपने को ढाले। इस अवस्था में बच्चा यौन भेद सीखता है और अपने लिंग के बारे में जागरूक हो जाता है। विपरीत लिंग के प्रति उसमें आकर्षण पैदा हो जाता है। इसी अवस्था में बालक से यह आशा की जाने लगती है कि वह पुत्र या पुत्री, भाई या बहन, मित्र या सहपाठी आदि में अपनी भूमिका का निर्वाह करना सीख ले। इसी अवस्था में दूसरे अनेक व्यक्तियों से अन्तःक्रियाएँ करने के बाद उसमें अनेक सामाजिक गुणों का विकास होता है।

4. किशोरावस्था (Adolescence Stage)-किशोरावस्था जो प्रायः 13 वर्ष की आयु से प्रारम्भ होती है। यह एक ऐसी अवस्था है जिसमें युवा बालक एवं बालिका अपने माता-पिता के नियन्त्रण से

अधिकाधिक स्वतन्त्रता चाहते हैं। विशेष रूप से यौन सम्बन्धी गतिविधियों में। इस अवस्था में बालक के शरीर में कुछ स्पष्ट शारीरिक परिवर्तन होने लगते हैं। इन शारीरिक परिवर्तनों के कारण किशोर के मन में एक तरफ स्वतन्त्रता की इच्छा बलवती होती जाती है, और दूसरी तरफ वह स्वतन्त्रता से भयभीत भी होने लगता है। इस अवस्था में बच्चा परिवार के अतिरिक्त पड़ोस, विद्यालय, खेल के साथियों और नए-नए लोगों के सम्पर्क में आता है। इन सभी विचारों एवं व्यवहारों से उसे समायोजन करना होता है। उसे अपनी संस्कृति से सम्बन्धित निषेधों एवं यौन सम्बन्धी निषेध ों का पालन करना पड़ता है। इस अवस्था में किशोर अनेक नई परिस्थितियों का सामना करता हुआ अनेक नए-नए अनुभवों को सीखता है। इस अवस्था में सांस्कृतिक मूल्यों एवं व्यक्तिगत अनुभवों द्वारा किशोरों में आत्म-नियन्त्रण की क्षमता पैदा होती है। इसी अवस्था में बालक अपनी यौन भावनाओं को दबाना भी सीख जाता है।

5. युवावस्था (Yound Stage)-इस अवस्था में व्यक्ति को परिवार के अतिरिक्त अनेक संस्थाओं की सदस्यता प्राप्त करने का अवसर मिलता है। उसे अनेक नए पद प्राप्त होते हैं और उनसे सम्बन्धि त भूमिकाओं का निर्वाह करना पड़ता है। व्यक्ति जिस संस्था की सदस्यता ग्रहण करता है; उसी की अपेक्षाओं के अनुरूप अपने को ढालने का निरन्तर प्रयास करता रहता है। परिवार में एक पिता, भाई, बेटा आदि की भूमिका जिस आत्मीयता से निभाता है, उसी प्रकार दूसरी संस्थाओं में प्राप्त पद को धारण करने के बाद उसका निर्वाह उसी ईमानदारी से करता है। इस अवस्था में अनेक खट्टे-मीठे अनुभव प्राप्त होते हैं। समाज भी प्रत्येक व्यक्ति से, जो जिस स्थिति में है; उससे उसी रूप की भूमिकाओं के निर्वाह की आशा करने लगता है।

6. प्रौढ़ावस्था (Maturity Stage) यह अवस्था व्यक्ति के जीवन के ढलान से शुरू होती है। इस अवस्था में व्यक्ति समाज में प्राप्त प्रस्थिति के अनुरूप भूमिकाओं के निर्वाह के लिए उत्तरदायी है। इस अवस्था में व्यक्ति के ऊपर सामाजिक दायित्व अत्यधिक बढ़ जाते हैं। सर्वप्रथम उसे पारिवारिक दायित्वों का निर्वाह करना होता है। बच्चों का लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा, शादी-व्यवहार आदि सभी दायित्वों का निर्वाह करना पड़ता है। समाज भी उससे उसकी प्रस्थिति (Status) के अनुरूप इन दायित्वों के निर्वाह की आशा करने लगता है। यदि व्यक्ति प्रस्थिति के अनुरूप अपनी भूमिकाओं का निर्वाह नहीं करते तो समाज में असन्तुलन पैदा हो जाता है, जो समाज की निरन्तरता तथा गतिशीलता में बाधक है। समाज का अस्तित्व ही तब तक है; जब तक समाज में सन्तुलन और नियन्त्रण बना रहता है। अतः इसके लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति कर्तव्यों और दायित्वों का बखूबी निर्वाह करे। इस अवस्था में व्यक्ति अपने बेटे-बेटियों की शादी करता है। नये परिवारों से उसके सम्पर्क और सम्बन्ध बनते हैं; जिसके कारण व्यक्ति दूसरों से कुछ सीखता है और खट्टे-मीठे अनुभव प्राप्त करता है तो दूसरे व्यक्ति भी उससे कुछ न कुछ सीखने का निरन्तर प्रयास करते हैं। इस अवस्था में निर्वाह करते-करते व्यक्ति की उम्र ढलने लगती है।

7. वृद्धावस्था (Old Stage)-यह अवस्था व्यक्ति के जीवन की अन्तिम अवस्था है। इस अवस्था में मानसिक, शारीरिक और सामाजिक स्थितियों में परिवर्तन आ जाता है। व्यक्ति अपने जीवन के पूर्वकाल में अनेक पदों और प्रस्थितियों को प्राप्त कर चुका होता है, और अपने जीवन के अन्तिम पड़ाव तक अनेक खट्टे-मीठे अनुभवों का स्वाद चख चुका होता है। इस अवस्था में व्यक्ति दादा-दादी, नाना-नानी आदि की भूमिकाएँ बड़ी खुशी के साथ निभाता है। उसके जीवन की सार्थकता पारिवारिक सदस्यों और समाज की अन्य द्वितीयक संस्थाओं से सामंजस्य और तालमेल बैठाने में

है। अपने जीवन के अनुभवों से अपने से छोटे नाती, पंती और समाज के अन्य सदस्यों को अपने ज्ञान से जानकारी देना ही उसके जीवन की साध रह जाती है। व्यक्ति वृद्धावस्था में परिवार और समाज के अन्य घटकों से अपने को कटा-फटा अनुभव न करे; इसके लिए आवश्यक है कि समाज के अन्य कल्याणकारी कार्य पूजा-पाठ, भजन-कीर्तन में अपना समय व्यतीत करे। इस अवस्था में व्यक्ति में चिड़चिड़ापन, असुरक्षा, पारिवारिक उत्थान और पतन की आकांक्षा आदि कुछ ऐसे कारक हैं जो उसे तनावग्रस्त किए रहते हैं। इनसे मुक्ति पाने के लिए व्यक्ति को निरन्तर क्रियाशील रहना परम आवश्यक है। जो वृद्ध परिवार में घुल-मिलकर और प्रत्येक सम और विषम परिस्थितियों में तालमेल बिठाकर अपना जीवन-यापन करते हैं; निःसन्देह उनकी वृद्धावस्था सुखमय व्यतीत होती है।

उपर्युक्त विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट होता है कि समाजीकरण एक प्रक्रिया है। प्रक्रिया की विशेषता है कि उसमें निरन्तरता होती है। गिलिन और गिलिन ने समाजीकरण की प्रक्रिया को तीन स्तरों में विभाजित किया है-पहला बाल्यावस्था, दूसरा युवावस्था और तीसरा प्रौढ़ावस्था। इन्हीं के अनुसार समाजीकरण की प्रक्रिया को गिलिन एवं गिलिन ने चार्ट द्वारा प्रदर्शित किया है।

गिलिन एवं गिलिन द्वारा दिए गए अग्रांकित चार्ट से स्पष्ट है कि समाजीकरण की प्रक्रिया के प्रथम चरण (बाल्यावस्था) में बालक के ऊपर परिवार का मूल प्रभाव पड़ता है। परिवार के प्रमुख सदस्य या माता-पिता का बालक के साथ जिस प्रकार का व्यवहार होता है, उसी प्रकार की आदतों को वह विकसित करता है। परिवार के अन्य बड़े लोग; जैसे-भाई, बहन, बाबा, दादी आदि का अनुकरण करके भी बालक विभिन्न व्यवहारों को सीखता है और समाजीकृत होता है। जब बालक बड़ा हो जाता है तो वह अन्य बच्चों के साथ खेलना शुरू कर देता है। इस प्रकार बालक अन्य बालकों के व्यवहार का अनुकरण करता व उनके व्यवहार को सीखता है। अन्य साथियों के ऊपर शासन करने या उनसे शासित होने के प्रयत्न में वह विभिन्न परिस्थितियों के साथ सामंजस्य स्थापित करना सीखता है।

व्यक्ति जब वयस्क अवस्था में अपना कदम रखता है और अनेकों द्वितीयक समूहों के सम्पर्क में आता व उनके साथ सम्बन्ध स्थापित करता है। वह स्कूल एवं कॉलेजों में पढ़ने जाता है। इस प्रकार अन्य व्यक्तियों से उसका सम्पर्क बढ़ता है। वह नए-नए विचारों को अपने अन्तर्गत समावेशित करता है। इस अवस्था में व्यक्ति पर माता-पिता का नियन्त्रण कुछ ढीला होने लगता है, किन्तु पूर्णतः समाप्त नहीं होता। व्यक्ति युवावस्था में धार्मिक संस्थाओं के सम्पर्क में भी आता है और यहीं से सही-गलत, उचित व अनुचित, अच्छा-बुरा, पाप व पुण्य के अन्तर को स्पष्टतः जान जाता है। व्यक्ति राजनैतिक दलों के सम्पर्क में आता है और उनके विचारों व बड़े-बड़े नेताओं के जीवन इतिहास से प्रभावित होता है और उन जैसा बनने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार अन्य दलों व समूहों, रेडियो, चलचित्र, पत्र व पत्रिकाओं आदि का भी व्यक्ति के विचारों व व्यवहारों पर प्रभाव पड़ता है।

व्यक्ति जब प्रौढ़ावस्था को प्राप्त हो जाता है तो उसे वैवाहिक संस्कार के माध्यम से गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करना होता है। इस स्तर पर व्यक्ति पति या पत्नी के रूप में विषम लिंग के साथ सामंजस्य स्थापित करना सीखता है। व्यक्ति का जीवन तभी सुखी रह सकता है; जब वह अपनी पत्नी या पति के साथ सामंजस्य स्थापित कर वैवाहिक जीवन को सुखमय बनाए। समाजीकरण की प्रक्रिया उसमें योगदान देती है। इसके अतिरिक्त अपनी सन्तानों, पास-पड़ोस, धार्मिक संस्थाओं, व्यावसायिक समूह आदि का भी प्रभाव व्यक्ति के विचारों व व्यवहारों पर पड़ता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समाजीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ से अन्त तक व्यक्ति का समाजीकरण करती है अर्थात् उसको परिस्थितियों के साथ अनुकूलन व सामंजस्य स्थापित करने के योग्य बनाती है।

समाजीकरण की विशेषताएँ (Characteristics of Socialization)-समाजीकरण की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं-

1. सीखने की प्रक्रिया (Learning Process)-जैसा कि पूर्व उल्लिखित है, सामाजिक सीख की प्रक्रिया को समाजीकरण कहते हैं; किन्तु प्रत्येक प्रकार का सीखा हुआ व्यवहार समाजीकरण नहीं कहलाता, बल्कि उस व्यवहार को; जो सामाजिक प्रतिमानों, मूल्यों एवं समाज द्वारा स्वीकृति प्राप्त हों, को सीखना समाजीकरण कहलाता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति चोरी, डकैती या अन्य अपराधी प्रवृत्तियों को सीखता है तो वह समाजीकरण की प्रक्रिया नहीं कहलाती क्योंकि ये क्रियाएँ न तो समाज द्वारा स्वीकृत हैं और न ही कानून द्वारा, क्योंकि व्यक्ति के ये कार्य उसे समाज का क्रियाशील सदस्य नहीं बनाते।

2. आजन्म प्रक्रिया (Life Long Process)-समाजीकरण की प्रक्रिया व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तक चलने वाली प्रक्रिया है। बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक व्यक्ति अनेक प्रस्थितियाँ (Status) धारण करता है और उनके अनुसार अपनी भूमिकाओं (Role) का निर्वाह करना सीखता है। बचपन में वह पुत्र, भाई, मित्र आदि के रूप में अन्य लोगों से व्यवहार करना सीखता है। युवावस्था में वह पति, पिता, व्यवसायी किसी संगठन के पदाधिकारी एवं अन्य अनेक पदों को ग्रहण करता है। वृद्धावस्था में दादा, नाना, श्वसुर, आदि पद धारण करता है और इन सभी पदों के अनुरूप भूमिका निर्वाह करना सीखता है। इस प्रकार व्यक्ति के सामने नई-नई परिस्थितियाँ एवं पद आते हैं और वह उनके अनुसार समाज द्वारा मान्य व्यवहारों को सीखता जाता है। इस प्रकार समाजीकरण की प्रक्रिया आजन्म (Life Long) प्रक्रिया है।

3. समय व स्थान से सापेक्ष रूप से सम्बन्धित (Directly Related to Time and Place) समाजीकरण की प्रक्रिया समय व स्थान सापेक्ष है। समय सापेक्ष का अर्थ है कि दो भिन्न समयों में समाजीकरण की अन्तर्वस्तु (contents) अलग-अलग हो सकती है। उदाहरण के लिए प्राचीन समय में स्त्रियों को पर्दा करना सिखाया जाता था, एक व्यक्ति को अपनी जाति के रहन-सहन, खान-पान सम्बन्धी नियमों से परिचित कराया जाता था; किन्तु वर्तमान समय में यह व्यवहार अपेक्षित नहीं है। इसी प्रकार बड़ों का अभिवादन करने के लिए बच्चों को प्रणाम करना, पैर छूना आदि सिखाया जाता था; किन्तु अब गुडमॉर्निंग, वाय-वाय, ओके, हैलो आदि शब्दों का प्रयोग प्रचलन में है।

   समाजीकरण स्थान सापेक्ष भी है। इसका अर्थ है कि एक स्थान पर कोई विशेष व्यवहार प्रशंसनीय माना जाता हो किन्तु वही व्यवहार किसी अन्य स्थान पर निन्दनीय माना जा सकता है। डेविस (Davis) कहते हैं कि अफ्रीका की मसाई जनजाति में एक-दूसरे के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए एक-दूसरे पर "थूकना' सिखाया जाता है; किन्तु भारत के सन्दर्भ में इस तरह की व्यवहार निन्दनीय एवं अनुचित है।

4. संस्कृति को आत्मसात करने की प्रक्रिया (Process of Culture Assimilation)-इस प्रक्रिया के द्वारा एक व्यक्ति सांस्कृतिक मूल्यों, मानकों एवं समाज स्वीकृत व्यवहारों को सीखता है तथा संस्कृति के भौतिक तथा अभौतिक तत्त्वों को आत्मसात करता है। धीरे-धीरे यह संस्कृति व्यक्ति के व्यक्तित्व का अंग बन जाती है।

5. समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बनने की प्रक्रिया (Process of Becoming a Function-ing Member of Society)-समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा व्यक्ति सामाजिक कार्यों में भाग लेने योग्य

बनता है। इसी के द्वारा प्राणीशास्त्रीय प्राणी से सामाजिक प्राणी में बदल जाता है। किस पद पर रहकर किस परिस्थिति में कैसे व्यवहार करना चाहिए, यह सब सामाजिक सम्पर्क से ही सीखा जाता है। सम्पर्क से ही व्यक्ति लोगों की अपेक्षाओं के अनुरूप व्यवहार करता है। हारालोम्बोस (Haralombos) कहते हैं कि, "समाजीकरण के अभाव में कोई मनुष्य समाज का सामान्य सदस्य नहीं बन सकता।"

6. आत्म का विकास (Development of the Self)-समाजीकरण के द्वारा व्यक्ति के "आत्म' का विकास होता है। व्यक्ति में अपने प्रति जागरूकता आती है और वह यह जानने लगता है कि दूसरे व्यक्ति उसके बारे में क्या सोचते हैं।

7. सांस्कृतिक हस्तान्तरण (Cultural Transmission)-समाजीकरण के द्वारा समूह अथवा समाज अपनी संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाता है अर्थात् नई पीढ़ी पुरानी पीढ़ी से संस्कृति ग्रहण करती है। डेविस कहते हैं कि परिवर्तित करने की इस प्रक्रिया के बिना समाज अपनी निरन्तरता बनाए नहीं रख सकता और न ही संस्कृति जीवित रह सकती है।

समाजीकरण के प्रमुख अभिकरण एवं संस्थाएँ

व्यक्ति के समाजीकरण की प्रक्रिया बहुत लम्बी और जटिल है। इस कार्य में अनेक संस्थाओं एवं समूहों जैसे परिवार, पड़ोस, मित्र-मण्डली, विवाह, नातेदारी आदि समूहों और द्वितीयक संस्थाओं जैसे विद्यालय, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं व्यावसायिक संगठनों का योगदान होता है। व्यक्ति इन संस्थाओं एवं समूहों से जितना अनुकूलन करता जाता है, समाजीकरण भी उतना ही अधिक और सफल माना जाता है। समाजीकरण में योग देने वाली कुछ प्रमुख संस्थाएँ और समूह निम्न प्रकार हैं-

व्यक्ति का समाजीकरण करने वाली संस्थाएँ

A. प्राथमिक समूह

1. परिवार (Family)-समाजीकरण करने वाली संस्थाओं में परिवार सबसे महत्त्वपूर्ण अभिकरण है। बालक सर्वप्रथम परिवार में ही जन्म लेता है और पारिवारिक सदस्यों के सम्पर्क में आता है। परिवार में ही उसे समाज के रीति-रिवाज, लोकाचार, प्रथाओं और संस्कृति का ज्ञान कराया जाता है। समय और महत्त्व की दृष्टि से परिवार समाजीकरण करने वाली प्राथमिक संस्था है। परिवार के भाई-बहनों और अन्य सदस्यों का भी बच्चे के समाजीकरण पर गहरा प्रभाव पड़ता है। पारिवारिक सदस्यों के पारस्परिक प्रेम, सहयोग, त्याग, अधिकार, बलिदान, सेवा, कर्तव्य, निष्ठा आदि से उसमें भी सद्गुणों का विकास होता है। परिवार में बच्चा जो कुछ भी सीखता है उसकी पुनरावृत्ति गुड्डे-गुड़ियों के खेल में करता है। पुरस्कार और दण्ड के आधार पर बच्चा उचित एवं अनुचित में भेद करना सीखता है। उसमें नैतिकता के भाव पैदा होते हैं और वह सही अर्थों को ग्रहण करता और वह सही अर्थों को ग्रहण करता है। भाषा का प्रयोग भी बच्चा परिवार में सीखता है। परिवार में रहने वाले व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न स्वभाव और रुचियों से बच्चा तालमेल और सामंजस्य बैठाने का निरन्तर प्रयास करता रहता है। परिवार बच्चे को आदर्श नागरिकता का पाठ पढ़ाता है। बच्चा छोटा होने के कारण बड़ों की आज्ञा का पालन करता है; जिससे उसमें आज्ञाकारिता का गुण पैदा होता है। परिवार के आदर्श और मूल्य बच्चे के भी आदर्श और मूल्य बन जाते हैं। परिवार ही बालक में प्रेम, त्याग, बलिदान, सहयोग, दया, क्षमा, परोपकार, देश-प्रेम, सहिष्णुता, अनुकूलन आदि गुणों को भरता है। इसीलिए कहा जाता है कि परिवार ही शिशु की प्रथम पाठशाला है।

अतः परिवार का वातावरण बालक के व्यक्तित्व के निर्माण में बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। उसके विचारों, दृष्टिकोणों, आदर्शों एवं मूल्यों पर परिवार की ही छाप अमिट होती है। परिवार के वातावरण पर बच्चे का समाजीकरण निर्भर करता है।

2. क्रीड़ा समूह (Play Group) समाजीकरण के लिए बच्चों में मित्र-समूह या खेल समूह का महत्त्वपूर्ण स्थान है। परिवार के बाद बच्चा अपने हम उम्र और खेल के साथियों के सम्पर्क में आता है। ये साथी उसे किसी प्रस्थिति एवं वर्ग के मूल्यों से परिचित कराते हैं। खेल समूह में बच्चा खेल के नियमों का पालन करना सीखता है। वह दूसरों के नियन्त्रण में रहना और अनुशासन का पालन करना सीखता है। यहाँ बच्चों में नेतृत्व के गुण का विकास होता है तथा अन्य लोगों पर नियन्त्रण और अनुशासन करना भी सीखता है। खेल के समय ही वह सहयोग, प्रतिस्पर्द्धा और स्वस्थ संघर्ष की भावनाएँ भी ग्रहण करता है। यहीं वह अन्य साथियों की इच्छाओं, रुचियों, विचारों, भावनाओं आदि का आदर करना और स्वयं को दूसरों की अपेक्षाओं के अनुरूप ढालना भी सीख जाता है। इस प्रकार बच्चा कानून और व्यवस्था का प्रतीक बन जाता है। परिवार समूह की भाँति क्रीड़ा समूह भी पुरस्कार एवं दण्ड द्वारा अपने साथियों के व्यवहार को स्वीकृत या अस्वीकृत करता।

3. पड़ोस (Neighbourhood) पड़ोस का बच्चों के समाजीकरण में विशेष योगदान होता है। युवाओं के समाजीकरण में भी पड़ोस अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। नगरीय पड़ोस की अपेक्षा ग्रामीण पड़ोस बच्चों में अधिक समाजीकरण करता है। अनजाने में ही बच्चे पड़ोसी से बहुत कुछ सीख जाते हैं। पड़ोसी बच्चों को स्नेह एवं प्यार से नई-नई बातों का ज्ञान कराते हैं। पड़ोसियों द्वारा बच्चों की प्रशंसा और आलोचना उन्हें समाज के अनुरूप व्यवहार करने की कला सिखाती है। पड़ोसी समय-समय पर उसे इस बात के लिए सचेत करते रहते हैं कि समाज उनसे किस प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा कर रहा है।

4. नातेदारी समूह (Kin Group)-नातेदारी समूह में रक्त और विवाह से सम्बन्धित सभी रिश्तेदार और सम्बन्धी आ जाते हैं। भाई-बहन, साले-साली, सास-श्वसुर, देवर-भाभी आदि सभी सम्बन्धि यों से व्यक्ति कुछ न कुछ सीखता ही रहता है। इन सभी सम्बन्धों के प्रति व्यक्ति की कुछ न कुछ भूमिकाएँ होती हैं, जिनका निर्वाह उसे करना पड़ता है। किसी के साथ घनिष्ठता के, किसी के साथ हँसी-मजाक के तो किसी के साथ गम्भीरता के सम्बन्धों को निभाना पड़ता है। विभिन्न रिश्तेदारों द्वारा बच्चे पर पड़ने वाला प्रभाव उसे कुछ न कुछ सिखाकर जाता है।

5. विवाह (Marriage)-विवाह व्यक्तियों के जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। समाजीकरण एक सतत प्रक्रिया है। अतः बच्चे ही नहीं बड़े व्यक्ति भी समाजीकरण के द्वारा निरन्तर कुछ न कुछ सीखते ही रहते हैं। विवाह के उपरान्त लड़के और लड़की को पति-पत्नी की भूमिका निभानी होती है। यह भूमिका उन दोनों के लिए नितान्त नई-नई होती है। पाश्चात्य देशों की तरह पति-पत्नी का पूर्वाभ्यास भारतीय समाज में नहीं होता। भारतीय समाज में तो पुरुष और महिलाएँ जिन्होंने कभी एक-दूसरे को देखा तक नहीं, के अनुरूप ढालना पड़ता है। एक-दूसरे के प्रति अनुकूलन और सामंजस्य बनाना पड़ता है। इन्हीं पति-पत्नी को आगे चलकर दादा-दादी, नाना-नानी, माता-पिता आदि की प्रस्थिति ग्रहण करके उनके अनुरूप भूमिकाएँ निभानी पड़ती हैं। अपने पारिवारिक जीवन के दायित्वों को निभाते हुए उन्हें अपने रिश्तेदारों सम्बन्धियों आदि से अनुकूलन करना पड़ता है।

(B) द्वितीयक संस्थाएँ

6. शिक्षण संस्थाएँ (Educational Institution) शिक्षण संस्थाओं में स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालय आदि संस्थाओं को सम्मिलित किया जाता है। शिक्षण संस्थाओं में बच्चा प्रमुख रूप से गुरुजनों, पाठ्य-पुस्तको एवं साहित्य तथा कक्षा के साथियों से अनेक बातें सीखता है। अपने विद्यार्थी जीवन में कोई न कोई अध्यापक उसका आदर्श अवश्य होता है; जिसके अनुरूप वह अपने को ढालने का प्रयास करता है। अध्यापकों के विचारों, आचरण, रहन-सहन के ढंग को वह अपनाने का प्रयास करता है। कक्षा या छात्रावास के सहपाठियों से वह निरन्तर कुछ न कुछ सीखता रहता है। देश-विदेश के समाज और संस्कृति के बारे में जानकारी और ज्ञान शिक्षण संस्थाओं से ही प्राप्त करता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करने में शिक्षण संस्थाएँ अहम् भूमिका निभाती हैं।

7. राजनैतिक संस्थाएँ (Political Institution) व्यक्ति के समाजीकरण में राजनैतिक संस्थाएँ विशेष योगदान देती हैं। ये संस्थाएँ व्यक्ति को कानून, शासन तथ अनुशासन से परिचित कराती हैं तथा उसे अधिकार और कर्तव्य का बोध कराती हैं। तानाशाही और प्रजातन्त्रीय शासन प्रणाली में व्यक्ति का समाजीकरण एक-सा नहीं होता, अलग-अलग होता है। तानाशाही शासन में व्यक्ति के जीवन की सुरक्षा कम होती है। अतः व्यक्ति के स्वाभाविक विकास में बाधा पड़ती है। प्रजातन्त्रीय और कल्याणकारी राज्य में सरकार लोगों की भलाई, शिक्षा एवं कल्याण के लिए अनेक कार्य करती है; जिससे व्यक्ति को व्यक्तित्व निर्माण के अवसर प्राप्त होते हैं।

8. आर्थिक संस्थाएँ (Economic Institution) आर्थिक संस्थाएँ ही व्यक्ति को जीवन-यापन के लिए समर्थ बनाती हैं। इन्हीं संस्थाओं के द्वारा हमें यह सीखने का अवसर मिलता है कि बाजार, बैंक, दुकान में किस प्रकार व्यवहार किया जाना चाहिए। आर्थिक संस्थाएँ ही व्यक्ति को व्यावसायिक सम्बन्धों से परिचित कराती हैं और व्यक्ति में संघर्ष, प्रतिस्पर्द्धा, समायोजन, लाभ, हानि आदि के भाव पैदा कराती हैं। ईमानदारी और बेईमानी जैसे सामाजिक मूल्य भी व्यक्ति इन्हीं संस्थाओं से सीखता है। आर्थिक संस्थाएँ ही व्यक्ति के जीवन और सामाजिक ढाँचे को निर्धारित करती हैं।

9. धार्मिक संस्थाएँ (Religious Institution) मानवीय जीवन से धर्म का गहरा सम्बन्ध है। अतः व्यक्ति जीवन भर धर्म से निरन्तर प्रभावित होता रहता है। ईश्वरीय भय और श्रद्धा, व्यक्ति में नैतिकता और मानवीय गुणों का विकास करते हैं। व्यक्ति में पवित्रता, न्याय, शान्ति-प्रियता, सच्चरित्रता, कर्तव्यपरायणता, दया, ईमानदारी आदि मूल्यों और गुणों का विकास करने में धर्म प्रमुख भूमिका निभाता है। मन्दिर, मस्जिद, चर्च गुरुद्वारे आदि धार्मिक और पवित्र स्थानों पर हमें किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, यह धार्मिक संस्थाएँ बताती हैं। धार्मिक ग्रन्थों, उपदेशों एवं साधु-सन्तों का प्रभाव भी लोगों के आचरण पर पड़ता है। पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक आदि धारणाएँ भी लोगों को सामाजिक आदर्श नियमों के अनुरूप आचरण करने पर बल देती हैं।

10. सांस्कृतिक संस्थाएँ (Cultural Institution)-आधुनिक समाज में अनेक सांस्कृतिक संस्थाएँ जैसे-संगीत, नाटक मण्डली एवं क्लब आदि व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में योगदान देती हैं। सांस्कृतिक संस्थाएँ ही व्यक्ति का रीति-रिवाज, परम्पराओं, प्रथाओं, वेश-भूषा, साहित्य, कला, भाषा आदि से परिचय कराती हैं। इन्हीं संस्थाओं द्वारा व्यक्ति अपनी संस्कृति से परिचय करता है और विरासत के रूप में संरक्षित करता है। व्यक्ति के सामाजिक जीवन का नियमन करने में संस्कृति नियन्त्रण एजेन्सी का कार्य भी करती हैं।

11. व्यावसायिक समूह (Occupational Group)-मनुष्य जिस व्यवसाय में लगा रहता है; उसके मूल्यों को भी ग्रहण करता है। व्यक्ति व्यवसाय के दौरान अनेक व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है। अधिकारियों, एजेण्ट, मैनेजर आदि के सम्पर्क से व्यक्ति व्यावसायिक गुण और ज्ञान को ग्रहण करता है। व्यवसाय के समय आने वाले उतार-चढ़ाव, मन्दी-तेजी आदि स्थितियाँ व्यक्ति में अनुकूलन करने की क्षमता पैदा करती हैं।

12. जातीय समूह (Caste Group) भारतवर्ष में व्यक्ति अपने जातीय समूह से भी बहुत कुछ सीखता है। व्यक्ति को अपनी जाति के अनुरूप ही खान-पान, छुआछूत, विवाह आदि के नियमों का पालन करना होता है। प्रत्येक जाति की अपनी एक संस्कृति होती है। जातीय संस्कृति के अनुसार उसे निर्धारित जातीय कायदा-कानून और नियमों का पालन करना अनिवार्य होता है। इस प्रकार की स्थिति से व्यक्ति को बहुत कुछ सीखने को मिलता है। व्यक्ति की उम्र जैसे-जैसे बढ़ती है, वैसे-वैसे उसका सामाजिक दायरा भी बढ़ता जाता है।

व्यक्ति का प्रारम्भिक अवस्था में प्राथमिक समूहों के द्वारा समाजीकरण सुनिश्चित होता है। व्यक्ति की उम्र जैसे-जैसे बढ़ती है; उसका समाजीकरण द्वितीयक समूहों द्वारा होने लगता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास और समाजीकरण के लिए दोनों समूह उत्तरदायी हैं क्योंकि समाजीकरण एक सतत् प्रक्रिया है।

bdkÃ&7 lL—fr% vFkZ ,oa ifjHkk"kk] çfØ;k fo'k"krk,
çdkj lH;rk] vFkZ] ifjHkk"kk

संस्कृति शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है और भिन्न-भिन्न समाजशास्त्रियों, मानवशास्त्रियों ने इसे अलग-अलग तरीकों से परिभाषित किया है। क्रोबर और क्लूखौन ने संस्कृति की परिभाषाओं का संकलन किया है और यह बताया है कि इसकी एक सौ आठ परिभाषाएँ हैं।संस्कृति शब्द संस्कृत भाषा से लिया गया है। दोनों एक शब्द संस्कार से बने हैं। संस्कार का अर्थ है-कुछअनुष्ठानों को सम्पन्न करना। इन्हीं संस्कारों को सम्पन्न करके व्यक्ति सामाजिक प्राणी बनता है और यहसंस्कार व्यक्ति, समाज में रहकर सीखता है। इसीलिए हॉबेल लिखते हैं, "संस्कृति सीखे हुए व्यवहारप्रतिमानों का कुल योग है।" समाजशास्त्रीय अर्थ में संस्कृति को समाज की धरोहर या सामाजिक विरासत (Social Heritage) माना जाता है। हरस्कोविट्स संस्कृति को"पर्यावरण का मानव निर्मित भाग' कहते हैं।राबर्ट बीरस्टीड के अनुस ार," संस्कृति वह सम्पूण ် जटिलता है; जिसमें वे सभी वस्तुएँ सम्मिलित हैं जिन परहम विचार करते हैं, कार्य करते हैं और समाज के सदस्य होने के नाते अपने पास रखते हैं।""Culture is the complex whole that consists of everything we think we do and have

as a member of society. -Robert Bierstedt, The Social Order, p. 106

ब्रूम एवं सेल्जनिक के अनुसार, "संस्कृति सामाजिक विरासत के रूप में है।"

"The term culture refer to a social heritage." -Broom and Selznick

मैलिनोवास्की के अनुसार, "संस्कृति मनुष्य की कृति है तथा एक साधन है; जिसके द्वारा वह अपने लक्ष्यों की प्राप्ति करता है।'

"Culture is the handiwork of the man and medium through which he achieves his ends." -Malinowaski, A Scientific Throry of Culture

राबर्ट रेडफील्ड के अनुसार, "संस्कृति ऐसे परम्परागत विश्वासों के संगठित समूह को कहते हैं जो कला एवं कलाकृतियों में प्रतिबिम्बित होते हैं तथा जो परम्परा द्वारा चलते रहते हैं और मानव समूह की विशेषता को चित्रित करते हैं।"

"Culture is an organised body of conventional understandings manifest in arts and arti-fact, which persisting through tradition, characterises a human group."

-Robert Redfield

स्पेन्सर के अनुसार, "संस्कृति पराजैविक पर्यावरण है जो अजैविक या भौतिक एवं जैविक, पौधों एवं पशुओं के संसार से भिन्न है।"

"Culture is the superorganic environment as distinguished from the inorganic or physical and from the organic, the world of plants and animals."

-Spence, Principle of Sociology

लेपियर के अनुसार, "संस्कृति पीढ़ियों से प्राप्त किसी सामाजिक समूह की शिक्षा, जो रीति-रिवाजों, परम्पराओं आदि से व्यक्त होती है, का नाम है।"

"Culture is the embodiment in customs, traditions etc. of the leaning of a social group over the generation." -Lapiere, Sociology

मैकाइवर और पेज के अनुसार, "संस्कृति हमारे जीवन क्रमों, चिन्तन पद्धतियों, दैनिक सम्पर्कों, कला, साहित्य, धर्म, मनोरंजन, विनोद आदि में हमारी प्रकृति की ही अभिव्यक्ति है।"

"Culture is the expression of our nature in our modes of living and our thinking, inter-course in our literature in religion, in recreation and enjoyment."

-MacIver and Page, Society

क्यूबर के अनुसार, "संस्कृति सीखे हुए व्यवहार से उत्पन्न ऐसे परिणामों (जिनमें मनोवृत्तियाँ, ज्ञान एवं पार्थिव वस्तुएँ सम्मिलित हैं) का सतत् परिवर्तनशील प्रतिमान है, जिनका समाज के सदस्यों द्वारा प्रयोग एवं हस्तान्तरण होता है।

उपरोक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि संस्कृति की एक सर्वमान्य परिभाषा बताना कठिन है क्योंकि यह एक जटिल शब्द है। इसकी व्यापकता के कारण इसे कुछ शब्दों में परिभाषित करना सम्भव नहीं है। संक्षेप में संस्कृति के सम्बन्ध में कह सकते हैं कि यह एक समाज विशेष का सम्पूर्ण व्यवहार प्रतिमान अथवा समग्र जीवन विधि है। इसमें विचार व व्यवहार के सभी प्रकार आ जाते हैं और आवश्यकता पूर्ति के लिए जिन भौतिक एवं अभौतिक वस्तुओं का निर्माण व्यक्ति ने किया है; वह भी संस्कृति में आते हैं।

संस्कृति की विशेषताएँ, प्रकृति या लक्षण (Nature or Characteristics of Culture)

संस्कृति की अवधारणा को अधिक अच्छी तरह समझने के लिए इसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालना आवश्यक है। जो निम्नलिखित बिन्दुओं द्वारा स्पष्ट की जा सकती हैं-

1. संस्कृति मानव निर्मित है (Culture is man made)-मानव में कुछ ऐसी शारीरिक एवं मानसिक विशेषताएँ होती हैं; जिनके द्वारा संस्कृति का निर्माण कर पाना मानव के लिए सम्भव हो पाता है। अन्य प्राणियों में यह विशेषता नहीं पाई जाती; इसलिए वह संस्कृति का निर्माण भी नहीं कर पाते।

2. प्रत्येक मानव समाज में उपस्थित (Present in every human Society)-संस्कृति सभी मानव समाजों में आवश्यक रूप से उपस्थित होती है, क्योंकि सभी मानव मस्तिष्क एवं प्रत्येक जाति-प्रजाति के मानव का शरीर लगभग समान होता है और वह संस्कृति निर्मित करने योग्य होता है; इसलिए प्रत्येक मानव समाज में संस्कृति का निर्माण होता है, चाहे वह आदिम मानव समाज हो या ग्रामीण या फिर आधुनिक नगरीय या औद्योगिक समाज हो।

3. संस्कृति सीखा हुआ व्यवहार है (Culture is a learned behaviour)-संस्कृति वंशानुक्रमण के माध्यम से प्राप्त नहीं होती बल्कि संस्कृति एक सीखा हुआ व्यवहार है। मनुष्य जब पैदा होता है तो वह पशु के समान होता है किन्तु संस्कृति को वह धीरे-धीरे समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा सीखता है किन्तु सभी सीखे हुए व्यवहार संस्कृति के अंग नहीं होते। जैसे पशु भी अनेक बातें सीख जाते हैं और व्यवहार करने लगते हैं किन्तु यह सीख उनकी व्यक्तिगत है; मानव की तरह सामूहिक व्यवहार का अंग नहीं है। पशु का सीखा हुआ व्यवहार केवल उसी पशु तक ही सीमित रहता है। इस प्रकार संस्कृति सीखा हुआ व्यवहार है जो केवल मानव समाज में पाई जाती है।

4. संस्कृति हस्तान्तरित होती है (Culture is transmitted)-यह स्पष्ट है कि संस्कृति सीखी जाती है; इसीलिए पुरानी पीढ़ी आने वाली नई पीढ़ी को संस्कृति सिखाती है, इसके लिए भाषा, लेखन सामग्री, संकेत, पुस्तकें इत्यादि का सहारा लिया जाता है। इस तरह से भूतकाल के अनुभवों का लाभ वर्तमान में और भविष्य में उठाया जा सकता है। प्रतिदिन के अनुभव संस्कृति में जुड़ते जाते हैं; इसलिए संस्कृति का कोष दिन-प्रतिदिन बढ़ता जाता है।

5. संस्कृति में सामाजिक गुण निहित (Culture has Social Quality)-संस्कृति किसी एक व्यक्ति की देन नहीं होती बल्कि सम्पूर्ण समाज की देन होती है। कोई भी संस्कृति समूह के कुछ लोग या पाँच, दस, सौ, दो सौ व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व नहीं करती बल्कि समाज के अधिकांश लोगों का प्रतिनिधित्व करती है। संस्कृति सम्पूर्ण समाज की जीवन विधि का प्रतिनिधित्वि करती है, न कि किसी एक या कुछ व्यक्तियों की जीवन विधि का : इसीलिए सम्पूर्ण समाज या समूह के अभाव में संस्कृति की कल्पना भी नहीं कर सकते।

6. संस्कृति समूह के लिए आदर्श (Culture Ideal for the Group)-प्रत्येक समूह या समाज के लोग अपनी संस्कृति को ही आदर्श मानते हैं और अपनी संस्कृति के अनुसार ही उनका बोलना, व्यवहार करना इत्यादि होता है। दूसरी किसी संस्कृति की तुलना में वे अपनी संस्कृति को आदर्श संस्कृति बताते हैं। अन्य किसी दूसरे समाज या समूह की संस्कृति को लोग जल्दी अपनाते भी नहीं हैं। परम्परागत समाजों में तो यह कार्य लगभग असम्भव है किन्तु आधुनिक समाजों में दूसरी संस्कृति को अपनाने की प्रवृत्ति अवश्य पाई जाती है।

7. मानव आवश्यकताओं की पूर्ति (Satisfaction of Human Needs) संस्कृति मानवीय आवश्कताओं को पूरा करने का माध्यम है। इन आवश्यकताओं में शारीरिक, मानसिक और सामाजिक आवश्कताएँ सम्मिलित हैं। प्रकार्यवादी समाजशास्त्रीय मैलिनोवास्की एवं रेडक्लिफ ब्राउन का मानना है कि संस्कृति का कोई भी अंग व्यर्थ नहीं है। सभी अंग मानव की किसी न

किसी आवश्कताओं को पूरा करते हैं। किसी भी सांस्कृतिक तत्त्व कां अस्तित्व तभी सम्भव है; जब वह किसी मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति करता हो। जब कोई अंग आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर पाता तो उसका अस्तित्व नष्ट हो जाता है और वह संस्कृति का अंग नहीं रहता। मानवीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए समय-समय पर आविष्कार होते रहते हैं और यही सब संस्कृति के अंग बनते जाते हैं। इस प्रकार संस्कृति का विकास मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया गया है।

8. अनुकूलन की क्षमता (Adaptability)-विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियों के अनुरूप संस्कृति अपने आपको बदलती रहती है अर्थात् संस्कृति में परिवर्तनशीलता का गुण होता है। संस्कृति में समय, स्थान एवं परिसम्पत्तियों के अनुसार स्वयं को ढालने एवं अनुकूलन करने का गुण होता है। प्राचीन भारत की संस्कृति वर्तमान संस्कृति से भिन्न है; इसका यही कारण है कि भारतीय संस्कृति में समय के अनुसार परिवर्तन हुए और परिस्थितियों के अनुसार उसने स्वयं को ढाल लिया।

9. सन्तुलन एवं संगठन का गुण (Integrative Quality)-संस्कृति का निर्माण विभिन्न इकाइयों से मिलकर होता है। सांस्कृतिक इकाइयाँ एक-दूसरे से मिली अर्थात् बँधी हुई होती हैं। ये सभी इकाइयाँ संगठित रूप से मिलकर ही सम्पूर्ण संस्कृति की व्यवस्था को बनाए रखती हैं। संस्कृति की विभिन्न इकाइयों में समरूपता की तरफ खिंचाव होता है; जिससे इकाइयाँ संगठित होती हैं और सामूहिकता अर्थात् समग्रता का निर्माण करती हैं।

10. मानव व्यक्तित्व निर्माण में मौलिक (Fundamental in Forming Human Personality)-प्रत्येक मनुष्य का पालन-पोषण किसी सांस्कृतिक पर्यावरण में होता है। बच्चा जन्म से जो सीखता है; उसे आत्मसात् कर लेता है। एक संस्कृति का व्यक्ति दूसरी संस्कृति से भिन्न होता है। संस्कृति में प्रचलित प्रत्येक तत्त्व, जैसे-धर्म, दर्शन, कला, साहित्य, विज्ञान, रीति-रिवाज, आदि की छाप व्यक्ति के व्यक्तित्व में देखने को मिलती है।

11. संस्कृति अधिवैयक्तिक एवं अधिसावयवी (Culture is both Superindividual and Superorganic)-इस विशेषता का उल्लेख क्रोबर ने किया है। अधिवैयक्तिक से तात्पर्य है कि संस्कृति का निर्माण और विकास किसी एक व्यक्ति के द्वारा नहीं किया जाता है। संस्कृति का निर्माण सम्पर्क समूह द्वारा होता है। हर्बर्ट स्पेन्सर एवं लिप्पर्ट ने संस्कृति की अधिसावयवी नामक विशेषता का उल्लेख किया है। जिन वस्तुओं में जीवन पाया जाता है; उसे सावयव कहते हैं। अधि सावयवी का अर्थ है-जो सावयव से भी ऊपर है। इस तरह संस्कृति अधिसावयवी एवं अधि वैयक्तिक है।

संस्कृति के प्रकार (Types of Culture)

आगबर्न ने संस्कृति के दो प्रकार बताए हैं और संस्कृति का यही वर्गीकरण सभी ने माना है:

1. भौतिक संस्कृति (Material Culture)-भौतिक संस्कृति के अन्तर्गत मानव द्वारा निर्मित वस्तुएँ आती हैं जो मूर्त हों। आदिकाल से लेकर अब तक मानव ने अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए अनेक वस्तुओं का निर्माण किया है; जैसे-पहिया, गाड़ी, जहाज, रेल, वायुयान, पेन, घड़ी इत्यादि असंख्य वस्तुएँ। ये सभी मानव की भौतिक संस्कृति के अंग हैं। मशीन, उपकरण, इमारतें, शिल्पकला, पुल का निर्माण, फर्नीचर आदि भी भौतिक संस्कृति में आते हैं। इस प्रकार भौतिक संस्कृति के तत्त्वों को गिन पाना सम्भव नहीं है क्योंकि इनकी संख्या बहुत अधिक है। जैसे-जैसे

व्यक्ति की आवश्यकताएँ बढ़ती जाएँगी, वैसे-वैसे व्यक्ति उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नए-नए आविष्कार व निर्माण करता रहेगा और भौतिक संस्कृति के तत्त्वों में वृद्धि होती जाएगी। स्वाभाविक है कि प्राचीन काल में भौतिक संस्कृति के तत्त्व कम होंगे और आज इनकी संख्या बहुत अधिक है। पुरातत्त्व विभाग के द्वारा खुदाई कार्य के उपरान्त अनेक प्राचीन संस्कृतियों का रहस्योद्घाटन हुआ है। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो नगरों में पाई जाने वाली भौतिक संस्कृति के तत्त्वों की जानकारी भी खुदाई द्वारा पता लगी है।

भौतिक संस्कृति में परिवर्तन शीघ्रता से होता है। एक वस्तु के प्राचीन एवं आधुनिक स्वरूप में अन्तर पाया जाता है। प्राचीन मकानों का निर्माण आज के निर्माण से भिन्न है।

भौतिक संस्कृति के तत्त्व मूर्त होते हैं अर्थात् उनकी लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई, मोटाई इत्यादि होती है, जिसे मापा जा सकता है। इसीलिए हम यह कह सकते हैं कि भौतिक संस्कृति की माप सम्भव है। जिस समाज में भौतिक संस्कृति के तत्त्व जितने अधिक होते हैं; उन्हें हम विकसित समाज मानते हैं किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वहाँ सुख-शान्ति हो।

2. अभौतिक संस्कृति (Non-Material Culture)-अभौतिक संस्कृति के अन्तर्गत उन सभी तत्त्वों को सम्मिलित किया जाता है जो अमूर्त हैं अर्थात् जिन्हें हम देख नहीं सकते। सोरोकिन ने अभौतिक संस्कृति को भावात्मक संस्कृति के नाम से पुकारा है। इस प्रकार की संस्कृति में भाव, आचार-विचार, विश्वास, धर्म, रीति-रिवाज, भाषा, नैतिकता, आदि को सम्मिलित करते हैं। ये पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होते रहते हैं। इनका कोई आकार और रंग-रूप नहीं होता; इसलिए इनकी नाप-तौल करना सम्भव नहीं है। राबर्ट बीरस्टीड अभौतिक संस्कृति में विचारों एवं सामाजिक मानदण्डों को ही सम्मिलित करते हैं। अभौतिक संस्कृति, सीखने की प्रक्रिया और समाजीकरण के द्वारा ही आगे आने वाली पीढ़ियों में हस्तान्तरित होती रहती है।

अभौतिक संस्कृति में परिवर्तन की गति अत्यन्त मन्द या नहीं के बराबर होती है। एक व्यक्ति जिस प्रकार की अभौतिक संस्कृति में जन्म लेता है; उसकी मानसिकता जीवन-पर्यन्त वैसी ही रहती है। काफी लम्बे समय के पश्चात् अत्यन्त धीमी गति में कोई परिवर्तन अवश्य ही हो सकता है। व्यक्ति जिस अभौतिक संस्कृति में जन्म लेता है, यदि उससे अनुकूलन न करे तो उसका जीवन सफलतापूर्वक व्यतीत नहीं हो सकता है। उसे अपनी ही अभौतिक संस्कृति के मानदण्डों के अनुसार रहना पड़ेगा; जब तक कि सम्पूर्ण समूह या समाज अभौतिक संस्कृति में परिवर्तन लाने के पक्ष में न हो! अभौतिक संस्कृति में परिवर्तन न हो पाने का कारण यह है कि व्यक्ति के आचार-विचार, धर्म, प्रवृत्तियाँ इत्यादि में परिवर्तन जल्दी नहीं हो सकता है, क्योंकि यह व्यक्ति के आन्तरिक या भावात्मक पक्ष से जुड़े होते हैं। यदि इन्हें कोई परिवर्तित करने का प्रयास करता है तो ठेस पहुँचती है; जबकि भौतिक संस्कृति व्यक्ति के बाहरी पक्ष से सम्बन्धि त है। उससे व्यक्ति का भावात्मक सम्बन्ध नहीं होता। अभौतिक संस्कृति के विरुद्ध यदि कोई व्यक्ति व्यवहार करता है तो उसकी समाज में निन्दा होती है या दण्ड मिल सकता है। कभी-कभी व्यंग या उपहास भी दण्ड के रूप में मिलता है।

संस्कृति का सामाजिक जीवन में महत्त्व (Importance of Culture in Social Life)

संस्कृति ही एक ऐसी विशेषता है जो मानव समाज को पशु समाज से पृथक् करती है। इस दृष्टि से तो संस्कृति महत्वपूर्ण है ही साथ ही व्यापक रूप में संस्कृति के महत्त्व को निम्नलिखित बिन्दुओं में दर्शा सकते हैं-

1. संस्कृति मानव आवश्यकताओं की पूर्ति करती है-संस्कृति मानव की विभिन्न सामाजिक, शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। अर्थात् संस्कृति मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन है। आवश्यकता अनेक नवीन आविष्कारों का कारण है। यही आविष्कार हमारी संस्कृति के अंग बनते जाते हैं। संस्कृति मनमाने ढंग से आवश्यकता पूर्ति की छूट नहीं देती। अतः संस्कृति यह भी बताती है कि व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति किस प्रकार करेगा।
2. व्यक्तित्व निर्माण में महत्त्वपूर्ण मनुष्य का पालन-पोषण जिस प्रकार की संस्कृति में होता है उसका व्यक्तित्व भी उसी प्रकार का होगा। प्रत्येक व्यक्ति अपनी संस्कृति के अभौतिक तत्त्वों; जैसे-धर्म, भाषा, रहन-सहन, रीति-रिवाज, प्रथा, परम्परा इत्यादि को ग्रहण करता है। इन सबकी छाप उसके व्यक्तित्व पर पड़ती है। इस प्रकार संस्कृति व्यक्ति के व्यक्तित्व को प्रभावित करती है।
3. नैतिकता व आदर्श मूल्यों का निर्धारण-संस्कृति में मानव व्यवहार एवं आचरण के कुछ आदर्श एवं मूल्य होते हैं। स्वतन्त्रतापूर्वक या मनमाने ढंग से व्यवहार करने की छूट कोई संस्कृति नहीं देती। प्रत्येक इकाई को अपना व्यवहार उस संस्कृति द्वारा निर्धारित आदर्श मूल्यों के अनुसार ही करना पड़ता है। प्रत्येक संस्कृति में नैतिकता एवं अनैतिकता के अपने मानदण्ड होते हैं। यदि इनका पालन सही तरीके से कोई व्यक्ति नहीं करता है तो समाज उस व्यक्ति को दण्ड दे सकता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आदत का दास होता है और व्यक्ति की ये आदतें उसके सांस्कृतिक पर्यावरण से प्रभावित होती हैं। आदतें बनाने में संस्कृति की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।
4. व्यवहारों में एकरूपता एक संस्कृति से सम्बन्धित व्यक्ति के व्यवहार में काफी कुछ समानता पाई जाती है। संस्कृति के आदर्श मूल्यों, रीति-रिवाजों आदि को मानना सभी व्यक्तियों के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। जब सभी व्यक्ति एक से ही आदर्श, मूल्य, प्रथा, परम्परा, इत्यादि का अनुकरण या अनुपालन करते हैं तो स्वाभाविक है कि उनमें एकरूपता आएगी।
5. संस्कृति अनुभव एवं कार्य कुशलता बढ़ाती है-संस्कृति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी की ओर हस्तान्तरित होती रहती है। इस तरह नई पीढ़ी को पुरानी पीढ़ी का अनुभव प्राप्त होता है। नई पीढ़ी इस अनुभव का लाभ उठाती है तथा उसमें कुछ अपनी ओर से जोड़कर एवं अनावश्यक तत्त्व निकालकर उसे और अधिक श्रेष्ठ बनाती है; जिससे कार्य कुशलता में वृद्धि होती है।
6. सुरक्षा की भावना-प्रत्येक समाज की संस्कृति अपने सदस्यों को सुरक्षा प्रदान करती है। संस्कृति में मानव व्यवहार से सम्बन्धित सभी पक्ष पहले से ही निर्धारित होते हैं। व्यक्ति उन्हें समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा स्वतः ही सीखता चला जाता है। उसे अपनी तरफ से कुछ सोचने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इससे व्यक्ति मानसिक एवं सामाजिक सुरक्षा का अनुभव करता है।
7. समस्याओं का समाधान-संस्कृति समस्याओं का समाधान भी करती है। किस परिस्थिति में कैसा व्यवहार करना है; इसका निर्धारण संस्कृति पहले ही कर देती है। जब व्यक्ति के सामने कोई समस्या आती है तो वह अपनी संस्कृति के अनुरूप ही उसका समाधान चुन लेता है। इस प्रकार उस व्यक्ति को समस्या के समाधान के लिए भटकना नहीं पड़ता और न ही माथापच्ची करने की आवश्यकता पड़ती है।
8. समाजीकरण में सहायक-व्यक्ति को समाजीकृत करने में संस्कृति महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। जन्म के बाद व्यक्ति पशु के समान होता है और समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा संस्कृति को सीखता है; जिससे वह पशु स्तर से ऊपर उठकर समाज में रहने योग्य बनता

9. प्रस्थिति एवं भूमिका का निर्धारण-संस्कृति प्रत्येक व्यक्ति की ; जो उस समाज में है, स्थिति और भूमिका का निर्धारण करती है। अर्जित एवं प्रदत्त प्रस्थितियों को प्राप्त करने के लिए नियमों को संस्कृति ही बनाती है। संस्कृति यह भी निर्धारित करती है कि किस प्रस्थिति वाले व्यक्ति को क्या भूमिका निभानी है। भूमिका के अलावा शक्ति, अधिकार, कर्त्तव्य, उत्तरदायित्व इत्यादि का निध रिण भी संस्कृति ही करती है। इसीलिए दो संस्कृतियों की तुलना करने पर हम यह पायेंगे कि विभिन्न पदों पर आसीन व्यक्तियों की भूमिका, कर्त्तव्य एवं अधिकारों में भिन्नता होगी।

10. सामाजिक नियन्त्रण में सहायक-संस्कृति के तत्त्वों में प्रथाएँ, परम्पराएँ, रीति-रिवाज एवं अन्य अनेक नियम होते हैं। इन नियमों के अन्दर रहकर ही व्यक्ति को अपना व्यवहार और आवश्यकताओं की पूर्ति करनी होती है। इससे समाज में नियन्त्रण बना रहता है। यदि इनको कोई तोड़ता है तो समाज उसे दण्ड देता है।

सभ्यता का अर्थ (Meaning of Civilization)

अंग्रेजी भाषा के Civilized शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के Civitas और Civis शब्द से हुई है जिसका अर्थ है-नगर या नगर निवासी जो एक ही स्थान पर स्थायी रूप से रहते हैं। ये लोग शिक्षित और सभ्य होते हैं।

फेयरचाइल्ड भी उच्च संस्कृति को सभ्यता मानते हैं। उनका मानना है कि असभ्य व्यक्तियों के सन्दर्भ में ही सभ्य व्यक्तियों को समझा जा सकता है क्योंकि यह शब्द तुलनात्मक रूप से ही समझे जा सकते। कौन व्यक्ति कितना सभ्य या असभ्य है इसका मूल्यांकन दूसरे व्यक्ति से तुलना करके ही किया जा सकता है।

सभ्यता की परिभाषा (Definition of Civilization)

टायलर के अनुसार, "सभ्यता मानव जाति की वह विकसित अवस्था है; जिसमें उच्च श्रेणी के वैयक्तिक एवं सामाजिक संगठन पाए जाते हैं, जिनका उद्देश्य मानव के गुणों, शक्ति और प्रसन्नता में वृद्धि करना होता है।"ब्रूम एवं सेल्जनिक के अनुसार, "एक सभ्य समाज वह है जिसमें उच्च प्रौद्योगिकी, श्रम विभाजन एवंविशेषीकरण पाया जाता है। एक समाज अच्छा भी हो सकता है और नहीं भी और इनकी संस्कृति सरलप्रौद्योगिकी वाले समाज से उच्च श्रेणी की हो भी सकती है और नहीं भी।"

bdkbl&8

lkekftd fu;=.k] vFk] ifjHkk"kk] fo'k"krk,] mís';

एडवर्ड ए. रॉस ने सर्वप्रथम 1900 के लगभग अपने लेखों में सोशल कण्ट्रोल (Social Control) शब्द का प्रयोग किया था। बाद में उन्होंने सन् 1900 में 'Social Control' नाम से एक पुस्तक भी लिखी थी। सामाजिक नियन्त्रण की निम्नलिखित परिभाषाएँ उल्लेखनीय हैं-

1. एडवर्ड रॉस के अनुसार, "सामाजिक नियन्त्रण पद्धतियों की एक व्यवस्था है; जिनके द्वारा समाज अपने सदस्यों को स्वीकृत व्यवहार प्रतिमानों के अनुरूप बनाता है।"

एडवर्ड रॉस ने सामाजिक नियन्त्रण को पद्धतियों की एक व्यवस्था माना है। इस व्यवस्था में नियन्त्रण के अनेक अभिकरण एवं साधन सम्मिलित होते हैं। औपचारिक साधनों के अन्तर्गत शिक्षा संस्थाएँ, राज्य और सरकार, कानून, अधिनियम, पुलिस, सेना, न्यायालय आदि सम्मिलित होते हैं। जनरीतियाँ, प्रथाएँ, परम्पराएँ, रूढ़ियाँ, संस्थाएँ, विश्वास, धर्म, नैतिकता, विचारधाराएँ आदि अनौपचारिक नियन्त्रण के प्रमुख अंग हैं। इन साधनों की सहायता से समाज अपने सदस्यों को मान्य प्रतिमानों के अनुसार व्यवहार करने के लिए प्रेरित करता है। इस प्रकार सामाजिक नियन्त्रण का तात्पर्य व्यक्तियों तथा समूहों के व्यवहारों के मान्यता प्राप्त प्रतिमानों के अनुरूप नियन्त्रित करना तथा सन्तुलित व्यवस्था का निर्माण करना है।

2. आगबर्न तथा निमकॉफ के शब्दों में, "दबाव का वह प्रतिमान; जिसे समाज व्यवस्था तथा स्थापित नियमों को बनाए रखने के लिए उपयोग में लाता है, सामाजिक नियन्त्रण की व्यवस्था कहा जाता है।'

   आगबर्न और निमकॉफ ने सामाजिक नियन्त्रण को दबाव के प्रतिमान के रूप में परिभाषित किया है। ये दबाव प्रत्यक्ष; जैसे-कानून, अधिनियम, पुलिस, न्यायालय अथवा अप्रत्यक्ष; जैसे-प्रथा, परम्पराएँ, धर्म तथा सामाजिक मूल्यों के रूप में हो सकते हैं। समाज में कोई भी व्यक्ति अपनी इच्छानुसार कार्य नहीं कर सकता है। यदि समाज के सदस्य सामाजिक प्रतिमानों के अनुकूल व्यवहार नहीं करते तो सामाजिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है। इन दबाव प्रतिमानों के माध्यम से व्यक्ति स्थापित नियमों के अनुसार कार्य एवं व्यवहार करने के लिए बाध्य किए जाते हैं। इसके परिणामस्वरूप प्रत्येक समाज में स्थिरता एवं व्यवस्था बनी रहती है। स्थापित नियमों से तात्पर्य उन नियमों से है जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित किए जाते हैं तथा समाज द्वारा स्वीकृत होते हैं।

3. मैकाइवर और पेज का कथन है कि, "सामाजिक नियन्त्रण का अर्थ उस प्रक्रिया से है; जिससे सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था में एकता बनी रहती है तथा जिसके द्वारा यह व्यवस्था एक परिवर्तनशील सन्तुलन के रूप में कार्य करती है।"

   मैकाइवर और पेज का मत है कि सामाजिक नियन्त्रण एक पद्धति है जो समाज को व्यवस्थित रखने तथा सदस्यों में एकता बनाए रखने में सहायक होती है। सामाजिक नियन्त्रण के विभिन्न साधन यह निर्धारित करते हैं कि व्यक्ति एवं समूह एक-दूसरे के साथ किस प्रकार का व्यवहार करें। व्यवहार का निर्धारण हो जाने से विभिन्न व्यक्तियों एवं समूहों में एकता बनी रहती है। यह स्थिति व्यवस्थित समाज को जन्म देती है। इस परिभाषा से यह भी स्पष्ट होता है कि सामाजिक नियन्त्रण एक स्थिर व्यवस्था न होकर एक परिवर्तनशील व्यवस्था है। समाज में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं जो सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित करते हैं। सामाजिक परिवर्तन के साथ-साथ सामाजिक नियमों एवं प्रतिमानों में भी परिवर्तन होता रहता है; जिससे समाज में सन्तुलन बना रहता है।

4. गिलिन और गिलिन के अनुसार, "सामाजिक नियन्त्रण; सुझाव, अनुभव, प्रतिरोध, उत्पीड़न तथा शारीरिक बल प्रयोग जैसे साधनों की वह व्यवस्था है, जिसके द्वारा समाज किसी समूह को मान्यताप्राप्त व्यवहार-प्रतिमानों के अनुरूप बनाते हैं अथवा जिसके द्वारा समूह सभी सदस्यों को अपने अनुरूप बना लेता है।"

गिलिन और गिलिन ने अपनी परिभाषा में सामाजिक नियन्त्रण के साधनों का उल्लेख किया है। सामाजिक नियन्त्रण के साधन एवं अभिकरण विभिन्न समाजों की परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं।

नियन्त्रण के ये साधन; सुझाव, अनुभव, प्रतिरोध, उत्पीड़न तथा बल प्रयोग आदि के रूप में होते हैं। इन साधनों की सहायता से समाज व्यक्तियों तथा समूहों को मान्यता प्राप्त व्यवहार-प्रतिमानों के अनुकूल आचरण करने के लिए बाध्य करता है। इस प्रकार सामाजिक नियन्त्रण द्वारा व्यक्ति का समाजीकरण होता है; जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति एक प्राणिशास्त्रीय प्राणी से सामाजिक प्राणी के रूप में बदल जाता है।

सामाजिक नियन्त्रण की विशेषताएँ (Characteristics of Social Control)

सामाजिक नियन्त्रण की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

1. सार्वभौमिकता (Universality)-सामाजिक नियन्त्रण एक सार्वभौमिक घटना है। सार्वभौमिक घटना से तात्पर्य यह है कि सामाजिक नियन्त्रण संसार के प्रत्येक समाज में किसी न किसी रूप में पाया जाता है। संसार में कोई भी ऐसा समाज नहीं होगा; जहाँ सदस्यों के व्यवहारों और क्रियाओं को नियन्त्रित करने की कोई व्यवस्था न हो। सभ्यता के सम्पूर्ण इतिहास में सामाजिक नियन्त्रण का विचार किसी न किसी रूप में अवश्य पाया जाता रहा है। नियन्त्रण के अभाव में सामाजिक सम्बन्ध छिन्न-भिन्न हो जाने से समाज का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा। इस सम्बन्ध में किंग्सले डेविस (Kingsley Davis) ने उचित ही लिखा है कि समाज का निर्माण ही सामाजिक सम्बन्धों एवं" नियन्त्रण की व्यवस्था' द्वारा होता है। एक की अनुपस्थिति में दूसरे का अस्तित्व कदापि सुरक्षित नहीं है।

2. एक प्रक्रिया (A Process)-सामाजिक नियन्त्रण एक प्रक्रिया के रूप में होता है। प्रक्रिया शब्द से तात्पर्य उस क्रिया से होता है, जो निरन्तर बदलती रहती है। सामाजिक नियन्त्रण भी बिना किसी अपवाद के आदिकाल से ही चला आ रहा है। व्यक्ति एवं समूहों के जीवन में नियन्त्रण की प्रक्रिया चलती रहती है। सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने के लिए व्यक्ति को पग-पग पर अनेक नियन्त्रणों का सामना करना पड़ता है। इस सम्बन्ध में पी. एच. लैण्डिस का कथन है कि सामाजिक नियन्त्रण एक प्रक्रिया है; जिसके द्वारा सामाजिक व्यवस्था स्थापित की जाती है और बनाई रखी जाती है।

3. पारस्परिक नियन्त्रण (Mutual Control) सामाजिक नियन्त्रण की एक मुख्य विशेषता पारस्परिक नियन्त्रण है। एक समूह, समिति, परिवार, पड़ोस, समुदाय आदि के सदस्य एक-दूसरे के व्यवहार को नियन्त्रित करते हैं। सामाजिक नियन्त्रण की प्रक्रिया निम्नलिखित तीन स्तरों पर चलती है-

   (i) व्यक्तियों का व्यक्तियों पर नियन्त्रण (ii) समूह का व्यक्तियों पर नियन्त्रण (iii) समूह का समूह पर नियन्त्रण।

   इस प्रकार सामाजिक नियन्त्रण का सम्बन्ध एक व्यक्ति या किसी छोटे समूह के व्यक्तियों से नहीं बल्कि यह सभी का सभी पर नियन्त्रण है।

4. सामाजिक अभिमति (Social Sanction) सामाजिक नियन्त्रण के लिए सामाजिक अभिमति अनिवार्य है। बिना सामाजिक अभिमति के सामाजिक नियन्त्रण प्रभावशाली नहीं हो सकता है। सामाजिक अभिमति मिलने पर ही जनरीतियाँ; प्रथाओं, परम्पराओं और रूढ़ियों में परिवर्तित होती हैं। नैतिक आदर्शों, विश्वासों, संस्कारों, उत्सवों आदि को भी सामाजिक अभिमति प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त जो नियम और कानून सरकार द्वारा बिना सामाजिक अभिमति के पारित कर दिए जाते हैं वे सभी अधिक शक्तिशाली नहीं बन पाते हैं; उदाहरण के लिए हिन्दू-विधवा पुनर्विवाह अधिनियम 1956, बाल विवाह निरोधक अधिनियम, विशेष विवाह अधिनियम 1954, दहेज

निरोध क अधिनियम 1961 आदि सामाजिक अभिमति के अभाव में भारतीय समाज पर अधिक प्रभाव नहीं डाल सके हैं।

5. साधनों की भिन्नता (Distinctive Means) समाज अपनी प्रकृति के अनुसार व्यक्तियों एवं समूहों के व्यवहारों को नियन्त्रित करने के लिए विभिन्न साधनों को उपयोग में लाता है। इन साध नों की प्रकृति भिन्न-भिन्न होती है। प्रत्येक समाज में सामाजिक घटनाओं, परिस्थितियों, सामाजिक सम्बन्धों एवं व्यक्तियों के कारण ही विभिन्न प्रकृति के नियन्त्रण के साधनों की आवश्यकता पड़ती है। सरल तथा जटिल समाजों में व्यक्तियों के व्यवहार को नियन्त्रित करने में क्रमशः अनौपचारिक एवं औपचारिक साधनों की प्रधानता होती है।

6. प्रविधियों की भिन्नता (Distinctive Techniques)-सामाजिक नियन्त्रण में केवल साधनों की भिन्नता ही नहीं होती बल्कि समाज की प्रकृति के अनुसार प्रविधियों में भी भिन्नता पाई जाती है। सरल समाजों में व्यक्ति के व्यवहार पर नियंत्रण करने के लिए सुझाव, पुरस्कार, दण्ड, हास्य, व्यंग्य, कहावतों आदि की प्रधानता होती है जबकि जटिल समाजों में नियंत्रण को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए चेतावनी, धमकी, प्रलोभन शारीरिक एवं आर्थिक दण्ड, कारावास, कूटनीतिज्ञ एजेन्सियों, गुप्त संगठनों आदि का प्रयोग किया जाता है।

7. परिवर्तनशील प्रकृति (Changing Nature)-सामाजिक नियन्त्रण की प्रकृति परिवर्तनशील होती है। मानव आवश्यकताओं में भी निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। इसलिए बदलती हुई परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं के अनुसार प्रथाओं एवं रूढ़ियों तथा दूसरी ओर नियमों और कानूनों में तीव्र गति से परिवर्तन होते हैं।

   सामाजिक नियन्त्रण की विशेषताओं से स्पष्ट होता है कि सामाजिक नियन्त्रण की प्रकृति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह एक अनिवार्य घटना है। सामाजिक नियन्त्रण के अभाव में किसी भी सरल अथवा जटिल समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। सामाजिक नियन्त्रण एक सार्वभौमिक घटना के साथ-साथ एक सार्वकालिक घटना भी है। इसका तात्पर्य यह है कि सामाजिक नियन्त्रण प्रत्येक काल तथा अवस्था में क्रियाशील रहा है तथा रहेगा। लेकिन इसके साथ यह भी कहा जा सकता है कि समाज में परिवर्तन होने पर नियन्त्रण के साधनों में भी परिवर्तन निश्चित रूप से होगा।

सामाजिक नियन्त्रण के उद्देश्य

प्रत्येक समाज में संगठन और व्यवस्था बनाये रखने के लिए सामाजिक नियन्त्रण आवश्यक है। प्लेटो (Plato) और अरस्तू (Aristotle) से लेकर टॉमस हॉब्स (Thomas Hobbes), जॉन लॉक (John Locke), रूसो (Rousseau), हरबर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer), लेस्टर वार्ड (Lester Ward), टॉनीज (Tonnies), गिडिंग्स (Giddings), दुर्खीम (Durkheim), एडवर्ड रॉस (Edward Ross), कूले (Cooley), समनर (Sumner) आदि ने व्यक्तिगत जीवन तथा सामाजिक सुरक्षा के लिए सामाजिक नियन्त्रण की आवश्यकता पर बल दिया है।

सामाजिक नियन्त्रण के क्या उद्देश्य हैं? सामाजिक नियन्त्रण की आवश्यकता क्यों पड़ती है? सामाजिक नियन्त्रण का महत्त्व क्या है? अथवा सामाजिक नियन्त्रण के क्या कार्य हैं? ये सभी प्रश्न अन्तःसम्बन्धि त हैं। इन सभी प्रश्नों के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक सुरक्षा तथा परिवर्तनशील परिस्थितियों में सामाजिक सम्बन्धों को व्यवस्थित करने के उद्देश्य से सामाजिक नियन्त्रण

की आवश्यकता पड़ती है। सामाजिक नियन्त्रण के प्रमुख उद्देश्यों, कार्यों, महत्त्व एवं आवश्यकता को निम्नलिखित आधारों पर प्रस्तुत किया जा सकता है-

1. सांस्कृतिक निरन्तरता बनाये रखना (To Maintain Cultural Continuity)-प्रत्येक समाज की अपनी संस्कृति होती है। इसके अन्तर्गत ज्ञान, कला, नीति, कानून, प्रथा, परम्परा, रूढ़ि विश्वास, धर्म, उपकरण, वैज्ञानिक आविष्कार आदि का समावेश होता है। सामाजिक नियन्त्रण के कारण व्यक्ति सांस्कृतिक प्रतिमानों के अनुकूल कार्य करते हैं तथा इनका हस्तान्तरण पीढ़ी दर पीढ़ी करते रहते हैं। निरन्तर हस्तान्तरण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप नई पीढ़ी इन प्रतिमानों के अनुसार व्यवहार करना सीखती है; जिससे संस्कृति की रक्षा होती है। इस प्रकार संस्कृति की रक्षा के लिए सामाजिक नियन्त्रण आवश्यक

2. सामाजिक निर्णयों का पालन करवाना (To Get Obey Group Decisions)-व्यवस्था को बनाए रखने के लिए सामूहिक निर्णय लिए जाते हैं। सामाजिक नियन्त्रण का उद्देश्य व्यक्तियों से सामूहिक निर्णयों का पालन करवाना है। समाज नियन्त्रण द्वारा व्यक्तियों को सामूहिक निर्णयों का पालन करने के लिए बाध्य करता है। इन निर्णयों का पालन न करने पर दण्ड की एक व्यवस्था होती है। परिस्थितियों में परिवर्तन आने से जो नवीन निर्णय लिए जाते हैं; उनका पालन करना भी अनिवार्य हो जाता है।

3. व्यक्तिगत व्यवहार का नियमन (Regulation of Individual Behaviour)-व्यक्ति स्वभाव से स्वार्थी तथा स्वच्छन्द होता है। यदि उसे मनमाने ढंग से अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने की स्वतन्त्रता दे दी जाए तो समाज में कुछ ही क्षणों में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। इस स्थिति के उत्पन्न हो जाने से समाज का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा। सामाजिक नियन्त्रण के साधनों द्वारा व्यक्तियों के व्यवहार का इस प्रकार नियमन किया जाता है कि विभिन्न व्यक्ति एक-दूसरे के अधिकारों का हनन न कर सकें। इस सम्बन्ध में बोगार्ड्स ने उचित ही लिखा है कि, "समूह नियन्त्रण वह पद्धति है; जिससे एक समूह अपने सदस्यों के व्यवहारों को नियन्त्रित करता है।"

4. व्यक्ति का समाजीकरण (Socialization of Individual)-सामाजिक नियन्त्रण का उद्देश्य व्यक्ति का समाजीकरण करना अर्थात् एक प्राणिशास्त्रीय प्राणी को एक सामाजिक प्राणी में बदलना है। व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास समाजीकरण पर ही आधारित होता है। समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा व्यक्ति सामाजिक नियमों, आदर्शों, रहन-सहन का ढंग, संस्कृति आदि को समाज द्वारा सीखता है। समाज व्यक्ति को मान्यता प्राप्त प्रतिमानों के अनुसार व्यवहार करने हेतु प्रशिक्षण देता है। वास्तव में वर्तमान और भविष्य की संस्कृति द्वारा सभ्यता समाजीकरण की प्रक्रिया पर ही आधारित है।

5. समाज में एकरूपता तथा एकता की स्थापना (Establishment of Conformity and Unity in Society)-समाज में विभिन्न धार्मिक समूह पाए जाते हैं। इन धार्मिक समूहों की जनरीतियों, प्रथाओं, रूढ़ियों, सामाजिक मान्यताओं, सांस्कृतिक प्रतिमानों आदि में पर्याप्त भिन्नता होती है। इसके अतिरिक्त एक विशेष समूह के सदस्यों के विचारों और व्यवहारों में भी अन्तर देखने को मिलता है। सामाजिक नियन्त्रण व्यवहार के सामान्य नियमों के आधार पर विभिन्न सदस्यों में सामान्य दृष्टिकोण विकसित करता है और उनको एक समान व्यवहार करने के लिए प्रेरित एवं विवश करता है। सामान्य नियमों के आधार पर व्यक्तियों के व्यवहार में एकरूपता उत्पन्न होती है। व्यवहार की एकरूपता के कारण समाज में एकता का विकास होता है। अतः समाज एकरूपता और एकता बनाए रखने के लिए सामाजिक नियन्त्रण एक आवश्यकता है।

6. मानसिक सुरक्षा प्रदान करना (To Provide Mental Security)-सामाजिक नियन्त्रण का उद्देश्य व्यक्ति को मानसिक सुरक्षा प्रदान करना है। व्यक्ति के समक्ष व्यवहार के चुनाव के अनेक विकल्प होते हैं। क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, क्या उचित है और क्या अनुचित है; इस बात का निर्णय व्यक्ति को स्वयं नहीं करना पड़ता है। इसका निर्णय स्वयं समाज द्वारा किया जाता है; जिसके कारण व्यक्ति मानसिक संघर्ष से बच जाता है। सकारात्मक सामाजिक नियन्त्रण व्यक्ति को प्रत्येक क्षेत्र में एक विशेष प्रकार का व्यवहार करने का आदेश देता है। जीवन-साथी का चुनाव अपनी जाति में करना चाहिए, यह सकारात्मक सामाजिक नियन्त्रण का उदाहरण है। नकारात्मक सामाजिक नियन्त्रण व्यक्ति को किसी प्रकार का कार्य करने अथवा न करने का आदेश देता है। सगोत्र विवाह नहीं करना चाहिए, यह नकारात्मक सामाजिक नियन्त्रण का उदाहरण है।

7. सामाजिक संगठन में स्थायित्व (Permanency in Social Organisation) सामाजिक नियन्त्रण द्वारा सामाजिक संगठन में स्थायित्व बना रहता है। सामाजिक संगठन से तात्पर्य व्यक्तियों की स्थिति और भूमिका में सामंजस्य से है। समाज में प्रत्येक व्यक्ति की निश्चित स्थिति होती है। उस स्थिति से सम्बन्धित एक विशेष भूमिका का निर्वाह व्यक्ति को करना पड़ता है। सामाजिक नियन्त्रण के औपचारिक एवं अनौपचारिक साधनों के कारण व्यक्ति अपनी स्वीकृत भूमिका का निर्वहन करते हैं। जब समाज के सभी व्यक्ति अपनी-अपनी स्थितियों के अनुसार भूमिकाओं को पूरा करते हैं तो इससे समाज में संघर्ष की सम्भावना कम हो जाती है; जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक संगठन में स्थिरता आती है।

8. सुरक्षा प्रदान करना (To Provide Social Protection)-सामाजिक नियन्त्रण के अभाव में सामाजिक सुरक्षा की कल्पना स्वार्थ है। सामाजिक नियन्त्रण द्वारा व्यक्ति को शारीरिक, व्यावसायिक, सम्पत्ति तथा अन्य क्षेत्रों में सुरक्षा प्रदान की जाती है। सामाजिक नियन्त्रण एक ओर सदस्यों में नैतिक दायित्व की भावना विकसित करता है और दूसरी ओर अपने नियमों द्वारा व्यक्ति की पाशविक प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाता है; परिणामस्वरूप व्यक्ति समाज में कल्याणकारी कार्य करने को बाध्य होता है, जिसके कारण सदस्यों के सभी हित सुरक्षित रहते हैं।

9. सामाजिक सन्तुलन बनाए रखना (To Maintain Social Equilibrium)-परिवर्तन प्रकृति का नियम है। समाज में मनुष्य की आवश्यकताओं और परिस्थितियों में भी परिवर्तन होते रहते हैं। नवीन परिवर्तनों से अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। सामाजिक परिवर्तन के कारण नियन्त्रण के पुराने साधन व्यक्ति के व्यवहार को निश्चित करने में प्रभावपूर्ण नहीं रह जाते हैं। इसलिए नियन्त्रण के साधनों में भी संशोधन तथा परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है। परिणामस्वरूप सामाजिक नियन्त्रण नवीन परिस्थितियों में भी व्यक्ति के व्यवहार को नियन्त्रित करता है। परिवर्तन की प्रकृति और नियन्त्रण के साधनों में सामंजस्य होने से सामाजिक सन्तुलन बना रहता है।

किम्बाल यंग ने सामाजिक नियन्त्रण के उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि" सामाजिक नियन्त्रण का उद्देश्य एक विशिष्ट समूह या समाज की समरूपता, एकता और निरन्तरता को लाना है।" वास्तव में अराजकता की स्थिति को समाप्त करने तथा समाज के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए सामाजिक नियन्त्रण आवश्यक है। नियन्त्रण की सहायता से मान्य विधियों द्वारा व्यक्ति का समाजीकरण होता है। सामाजिक नियन्त्रण व्यक्ति के असामाजिक कार्यों पर रोक लगाकर सदस्यों को मानसिक एवं सामाजिक सुरक्षा प्रदान करता है। सामाजिक नियन्त्रण की आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए लैण्डिस ने लिखा है कि

"सामाजिक नियन्त्रण (1) व्यक्ति की स्वयं अपने से रक्षा करने और (2) समाज को अव्यवस्था को बचाने के लिए आवश्यक है।"

सामाजिक नियन्त्रण के अभिकरण के रूप में सामाजिक मूल्य की भूमिका-सामाजिक नियन्त्रण के साधन के रूप में मूल्यों का उल्लेखनीय योगदान रहा है। मूल्य समाज के द्वारा स्वीकृत वे इच्छाएँ तथा लक्षण हैं; जिनका आन्तरीकरण सीखने या समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से आरम्भ होता है जो कि इनके पश्चात् प्रातीतिक अभिमान्यताएँ बन जाती हैं। डॉ. राधाकमल मुकर्जी के अनुसार, "मूल्य सामाजिक होते हैं; मनुष्य ही सामाजिक मूल्यों को जन्म देता है। सामाजिक व्यवहार और प्रतिमान मूर्त होते हैं परन्तु मूल्य आदर्श और प्रमाप होते हैं। मूल्यों को केवल अनुभव के आधार पर जाना जा सकता है। सामाजिक मूल्यों के उदय और विकास में सामाजिक और मनोवैज्ञानिक कारकों का योगदान होता है।

मूल्य की अनेक परिभाषाएँ की गई हैं। डॉ. मुकर्जी ने इसको परिभाषित करते हुए लिखा है, "मूल्य एक जटिल सम्पूर्णता है-चेतन प्राणीशास्त्रीय सामाजिक आदर्श दशा है।" इस परिभाषा के अनुसार मूल्य सम्पूर्ण व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखता है और यह मनुष्य की प्राणीशास्त्रीय आवश्यकताओं, सामाजिक सम्बन्धों एवं मानव की आदतों पर आधारित होता है। यह एक सजीव सामाजिक तथ्य है, केवल कल्पना नहीं।"मूल्य को एक प्रातीतिक माप भी कहा जा सकता है, मूल्य वह महत्त्व है जो हम एक वस्तु का उसी वर्ग की अन्य वस्तुओं की तुलना में देते हैं।"

फेयरचाइल्ड ने मूल्य की परिभाषा करते हुए लिखा है, "यह विश्वास की वह क्षमता है; जिसके आध ार पर हम मानव की इच्छा सन्तुष्टि का माप करते हैं। यह वह गुण है जो एक व्यक्ति या समूह के लिए महत्त्वपूर्ण होता है। मूल्य स्पष्ट रूप से एक मनोवैज्ञानिक सत्यता है जो किन्हीं भी साधनों से मापा नहीं जा सकता। मूल्य और उपयोगिता में बहुत भेद है, क्योंकि मूल्य की वास्तविकता मन में होती है, बाह्य वस्तु में नहीं। मूल्य विशुद्ध रूप से एक विश्वास का प्रश्न है; एक वस्तु जिसकी कोई भी उपयोगिता न फिर भी बहुत ही मूल्यवान हो सकती है। अन्तिम मूल्य मानव स्वभाव में ही निहित है क्योंकि वे स्वयंसिद्ध हैं। मूल्यों का अस्तित्व मनोवैज्ञानिक या सामाजिक अनुसन्धान से पता लगाया जा सकता है, पर उनकी प्रामाणिकता या औचित्य को स्पष्ट नहीं किया जा सकता। इस पर भी वे समस्त चेतन तार्किक व्यवहार की प्रेरणा के अन्तिम स्रोत हैं।"

फेयरचाइल्ड के अनुसार-(i) मूल्य मनोवैज्ञानिक तथ्य हैं, जिनको मापा नहीं जा सकता, (ii) मूल्य और उपयोगिता में बड़ा अन्तर है। (iii) मूल्य विश्वास पर आधारित हैं। (iv) मूल्य मानव व्यवहार के महत्त्वपूर्ण प्रेरक हैं।

थामस और जैनिकी ने मूल्य को परिभाषित करते हुए लिखा है कि, "मूल्य वे वस्तुएँ जो एक सामाजिक समूह के सदस्यों के लिए कुछ अर्थ एवं तथ्य रखते हैं।"(A Value is any object having an accessible content and meaning to the members of a social group.)

ब्रोनोवॉस्की ने मूल्य को परिभाषित करते हुए लिखा है कि, "मूल्य वह अवधारणा है जो समाज में व्यवहार के कुछ प्रकारों को एक साथ जोड़ देती है।" (A value is a concept which groups together some modes of behaviour in our society)

ली ने लिखा है कि, "मानव मूल्यों या मूल्य या मूल्यों के तन्त्र द्वारा हम उस आधार को समझते हैं जिसके अनुसार व्यक्ति एक मार्ग को दूसरे की अपेक्षा चुनेगा, अच्छा या बुरा का निर्णय करेगा। मूल्य ही इसमें हमारी सहायता करते हैं।" (By human values, by a value or a system of values, I mean the

NOTES

basis upon which an individual will choose one course rather than another, judged as better or worse, right or wrong.)

प्रातीतिक एवं विषयक मूल्य को परिभाषित करते हुए बन्जेल (Benzel) ने लिखा है, "प्रातीतिक मूल्य (Subjective values) वे मूल्य होते हैं; जिनके निर्णय का माप व्यक्तियों, समूहों या संस्थाओं द्वारा सामाजिक सन्दर्भ से उत्पन्न होता है।"

"विषयक मूल्य (objective values) वे मूल्य होते हैं जिनके निर्णय का माप व्यक्तियों, समूहों या संस्थाओं की एकमतता से सिद्ध होता है।"

इलियट (Eliot) ने सामाजिक मूल्य के सन्दर्भ में लिखा है कि "सामाजिक मूल्य वे मूल्य होते हैं जो वस्तुओं, मानव विचारों इत्यादि पर सामूहिक एकमतता से लगाए जाते हैं। मूल्य सकारात्मक या नकारात्मक हो सकता है। सामाजिक मूल्य एक समूह के द्वारा मान्य होते हैं; उनके ही अनुसार हम व्यवहार करने का प्रयत्न करते हैं।" (Social value, objects, inanimate or animate, human, artificial or non-material, to which some values for the group (collectively or distributively) has been imputed by group consensus. The value may be positive or negative. The attitudes of persons often reflect group consensus toward social values, and may also affect and thus modify the group consensus.)

सामाजिक मूल्य के निर्धारक तत्व (Determinating Elements of Social Values)-सामाजिक मूल्य के निर्धारक तत्व निम्नलिखित हैं-1. चालक 2. प्रतिक्रिया 3. अनुकरण 4. मत या सुझाव 5. नेतागण 6. धर्म 7. लोक कथाएँ 8. आर्थिक संस्थाएँ।

मूल्यों का महत्व (Importance Values) हमारे सामाजिक सम्बन्धों को सन्तुलित बनाए रखने में मूल्य अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। मूल्यों के द्वारा सामाजिक व्यवहार में एकरूपता बनी रहती है। मूल्य व्यक्ति एवं समाज दोनों के जीवन में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। डॉ. राधाकमल मुकर्जी के अनुसार, 'समाज मूल्यों का एक संगठन व संकलन है।" मुकर्जी के मतानुसार मूल्य सामाजिक प्रक्रिया में सामूहिक अनुभव होते हैं; जिनका निर्माण वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनों ही प्रकार के प्रत्युत्तरों तथा मनोवृत्तियों द्वारा होता है। ये मूल्य समाजों का निर्माण करते हैं और सामाजिक सम्बन्धों को संगठित बनाते हैं।

स्व-प्रगति की जाँच करें :

1. समाज के के सावयवी सिद्धान्त के सम्बन्ध में हरबर्ट स्पेन्सर का क्या योगदान है? इस सिद्धान्त के बारे में उसके विचार स्पष्ट करें।
2. समाजीकरण स्पष्ट करें।
3. समाजीकरण के सम्बन्ध में समाजशास्त्री ब्रूम तथा सेजनक ने क्या कहा है?
4. समाजीकरण की प्रक्रिया की मौखिक अवस्था क्या है?

सारांश

समाज या सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित जो मूल्य होते हैं उनमें एक प्रकार्यात्मक सम्बन्ध होता है जिसके कारण सामाजिक सम्बन्धों का ताना-बाना टूटता नहीं और उनमें एक तालमेल की स्थिति बनी रहती है, जिसके परिणामस्वरूप समाज में व्यवस्था का नियन्त्रण बना रहता है। उदाहरणार्थ, परिस्थितिगत स्तर (ecological level) पर प्राकृतिक साधनों के उपयोग सम्बन्धी कुछ मूल्य होते हैं, जिसके कारण परिस्थितिगत सन्तुलन सम्भव होता है। उसी प्रकार आर्थिक स्तर पर समाज कल्याण, कीमत, आय का वितरण, उचित वेतन तथा जीवन स्तर सम्बन्धी मूल्य होते हैं। सामाजिक स्तर पर सामाजिक संगठन व व्यवस्था सम्बन्धी मूल्य, शैक्षिक स्तर पर व्यक्तित्व मानसिक स्वास्थ्य, चरित्र तथा जीवन-लक्ष्य विषयक मूल्य; समाज के विभिन्न पक्षों और समग्र रूप में पूरे समाज को सन्तुलित व व्यवस्थित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं अन्यथा डॉ. मुकर्जी के अनुसार समाज आदिकालीन बर्बर स्तर पर उतर आएगा। सुसंस्कृत समाज का प्रथम लक्षण उच्च तथा उत्तम प्रकार के मूल्य ही हैं।

जहाँ तक व्यक्ति के जीवन में मूल्यों के महत्त्व का प्रश्न है, डॉ. मुकर्जी का कथन है कि मूल्य, मनुष्य के सामाजिक जीवन के अनुरूप स्थिर तथा सुसंगत तरीके से उसके आधारभूत आवेगों और इच्छाओं का संगठन व सन्तुष्टि करके, मनुष्य के उद्विकास एवं चुनाव में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। यह वह प्रक्रिया है; जिसके द्वारा मनुष्य का स्वकेन्द्रित (egocentric), तात्कालिक तथा अस्थिर आवश्यकताओं को एक स्थायी मानसिक समूहों (Mental sets) या मूल्यों में रूपान्तरित किया जाता है; जिसके बिना मनुष्य का जीवन, घिनौना (masty), पशुवत् (brutish) एवं संक्षिप्त (short) बन गया होता।

व्यक्तित्व के निर्माण तथा संगठन में मूल्यों की भूमिका उल्लेखनीय रही है। मुकर्जी के मतानुसार मूल्य तथा मूल्य व्यवस्था व्यक्तित्व की संरचना को परिभाषित तथा नियन्त्रित करती है और उसके बदले में व्यक्ति अपने आचरणों द्वारा मूल्यों की गुणात्मक परिशुद्धि तथा परिमार्जन करता है। व्यक्ति तथा मूल्यों के इस आपसी सम्बन्ध के कारण ही मूल्यों में परिवर्तन, परिवर्द्धन तथा परिमार्जन होता रहता है।

स्व-प्रगति की जाँच के उत्तर :

1. हरबर्ट स्पेन्सर का इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में विशेष योगदान है। उनके अनुसार-समाज एक जीवन रचना है। स्पेन्सर ने समाज को एक जैविक प्रणाली या एक विशालकाय शरीर माना है; जिसकी अपनी एक संरचना और कार्य होते हैं। समाज रूपी शरीर के कोष्ठ व्यक्ति हैं। उसके विभिन्न अवयव तथा व्यवस्थाएँ, समितियाँ और संस्थाएँ हैं। इस सिद्धान्त के समर्थकों में से अनेक यह मानते हैं कि शरीर के साथ समाज भी जन्म लेता है। मूलतः यह सिद्धान्त मानता है कि जिस प्रकार शरीर से पृथक् किसी भी अंग का कोई महत्त्व नहीं है; उसी प्रकार समाज के बिना व्यक्ति का कोई महत्त्व एवं अस्तित्व नहीं है।

2. मानव शिशु जन्म के समय समाज के रीति-रिवाजों, परम्पराओं, प्रथाओं, मूल्यों और संस्कृति के विभिन्न उपायों से अनभिज्ञ होता है। वह यह नहीं जानता कि उसे किसके प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिए, समाज उससे क्या अपेक्षाएँ रखता है। शिशु कुछ शारीरिक क्षमताओं के साथ पैदा होता है। इन क्षमताओं के कारण ही वह बहुत कुछ सीख लेता है, समाज का क्रियाशील सदस्य बन जाता है और अन्ततः संस्कृति ग्रहण कर लेता है। यह सीखने की क्षमता सामाजिक सम्पर्क से ही विकसित होती है। सामाजिक सम्पर्क के कारण ही व्यक्ति समाज के रीति-रिवाजों, मूल्यों, आदर्शों और संस्कृति के विभिन्न गुणों को सीखता है और एक सामाजिक प्राणी का दर्जा प्राप्त करता है। अतः अरस्तू का यह कथन सदैव ही सत्य है कि "मनुष्य एक सार्वजनिक प्राणी है। मनुष्य को केवल सामाजिक प्राणी कह देने से हमारी जिज्ञासा समाप्त नहीं हो जाती। हमारे सामने सबसे प्रमुख समस्या यह आती है कि मनुष्य किस प्रकार एक सामाजिक प्राणी है? व्यक्ति किन्हीं परिस्थितियों के कारण सामाजिक प्राणी बना है अथवा ऐसा प्राकृतिक रूप से है? क्या समाज के बाहर भी व्यक्ति का अस्तित्व सम्भव है? यदि नहीं तो वह साधन कौन-से हैं; जिनसे व्यक्ति समाज के साथ अनुकूलन करना सीखता है?

3. ब्रूम तथा सेल्जनिक (Broom and Selznick) के अनुसार, "समाजीकरण के दो पूरक अर्थ हैं- संस्कृति का हस्तान्तरण और व्यक्तित्व का विकास।" इससे स्पष्ट है कि समाजीकरण द्वारा एक व्यक्ति अपनी संस्कृति को सीखता है। संस्कृति को सीखने से ही बालक के व्यक्तित्व का विकास होता है।

4. मौखिक अवस्था (Oral Stage) यह समाजीकरण की प्रथम अवस्था है। गर्भ में भ्रूण आरामपूर्वक रहता है। जन्म के समय शिशु प्रथम संकट का सामना करता है। उसे साँस लेनी होती है, उसे पेट भरने

के लिए श्रम करना पड़ता है, उसे सर्दी-गर्मी, गीलेपन और अन्य असुविधाओं का सामना करना पड़ता है। वह रोता और चिल्लाता है। यह समाजीकरण का प्रथम चरण है, जिसमें शिशु मौखिक रूप से दूसरों पर निर्भर रहता है। बच्चा अपने भोजन के समय के बारें में निश्चित अपेक्षाएँ बनाने लगता है और अपनी देखभाल के लिए संकेत देना सीख जाता है। शिशु अपना दुख-सुख मुँह के माध्यम से या हावभाव के द्वारा प्रकट करता है। इसीलिए इसे मौखिक अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में बच्चा अपनी माँ के अतिरिक्त परिवार के किसी अन्य सदस्य को नहीं पहचान पाता। यह अवस्था लगभग 1.5-2 वर्ष तक रहती है।

अभ्यास-प्रश्न

1. व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों की समीक्षा करें।
2. मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, व्याख्या करें।
3. मनुष्य पर समाज के प्रभाव पर टिप्पणी लिखिए।
4. सामाजीकरण से क्या तात्पर्य है? इसकी प्रक्रियाएँ बताइए।
5. सामाजीकरण के प्रमुख अभिकरण एवं संस्थाओं का वर्णन कीजिए।
6. संस्कृति से आप क्या समझते हैं? इसकी विशेषताओं एवं प्रकारों की विस्तृत विवेचना कीजिए।
7. संस्कृति का सामाजिक जीवन में महत्त्व स्पष्ट करें।
8. सामाजिक नियंत्रण की विशेषताओं का वर्णन करें।
9. सामाजिक नियंत्रण के उद्देश्यों की विवेचना कीजिए।

ekMîy&3

सामाजिक स्तरीकरण एवं गतिशीलता
(Social Stratification and Mobility)

इस अध्याय के अन्तर्गत :

- सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ
- सामाजिक स्तरीकरण की मुख्य विशेषताएँ एवं इसके आधार
- सामाजिक स्तरीकरण के स्परूप
- सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धान्त
- सामाजिक स्तरीकरण के प्रकार्य अथवा महत्व
- सामाजिक स्तरीकरण के दोष
- सामाजिक गतिशीलता, इसके स्परूप और इसकी मात्रा

अध्याय के उद्देश्य :

- इस अध्याय के अध्ययन के उपरांत आप जान सकेंगे :
- सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ
- सामाजिक स्तरीकरण की मुख्य विशेषताएँ एवं इसके आधार
- सामाजिक स्तरीकरण के स्परूप और विभिन्न सिद्धान्त
- सामाजिक स्तरीकरण के महत्व एवं इसके अकार्य या दोष
- सामाजिक गतिशीलता, इसके स्परूप और इसकी मात्रा

bdkb&9 lkekftd Lrjhdj.k dk vFk] ifjHkk"kk] fo'k"krk] Lo:i fl)kr] çdk;] vdk;Z

सामाजिक स्तरीकरण की अवधारणा मुख्यतया सामाजिक असमानता के सिद्धान्त पर आधारित रहती है। यदि सावधानी से अध्ययन करें तो हमें ज्ञात होगा कि मानव जाति के इतिहास में ऐसा कोई काल नहीं रहा जबकि सभी मनुष्यों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति समान रही हो; प्राचीन मानव समाज में असमानताएँ थीं तथा आधुनिक समाजों में भी असमानताएँ हैं। आदिम समाजों में भी मुखिया का नेतृत्व व प्रभुत्व की भावना, व्यक्तिगत प्रभाव तथा सम्पत्ति के आधार पर ऊँच-नीच का भेदभाव रहा है। समाज में विभिन्न सदस्यों में ऊँच-नीच की इस भावना को ही सामाजिक स्तरीकरण कहा जाता है।

वास्तव मे असमानता सार्वभौतिक सामाजिक तथ्य है। मनुष्यों की शारीरिक, नैतिक, आर्थिक तथा व्यावसायिक भिन्नता प्रत्येक समाज को विभिन्न समूहों में विभाजित कर देती है। समाज के सदस्यों को उनकी विशेषताओं के आधार पर समूहों में विभाजित कर देती है। समाज के सदस्यों को उनकी विशेषताओं के आधार पर समूहों में भी बाँटा जा सकता है, जो समानता रखते हैं तथा समाज के लोग इस प्रकार के समूहों में भी विभाजित रहते हैं; जिनकी स्थिति ऊँची-नीची है। स्थितियों में यह असमानता ही'' सामाजिक स्तरीकरण' कहलाती है।

सामाजिक स्तरीकरण के विषय में एक विद्वान का कथन है, ''समाज के विभिन्न सदस्यों के बीच ऊँच-नीच की स्थितियों को हम सामाजिक स्तरीकरण (Social Stratification) कहते हैं। सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ सदैव शोषण करना ही नहीं होता बल्कि प्रत्येक की बुद्धि, योग्यता, कार्यक्षमता और शारीरिक शक्ति के अनुसार समाज में उसकी स्थिति और कार्यों को निश्चित करके समाज को दृढ़ बनाना होता है। सामाजिक स्तरीकरण सर्वव्यापी रूप से सभी समाजों में पाया जाता है, लेकिन विभिन्न समाजों में इसका रूप भिन्न-भिन्न हो सकता है। कुछ समाजों में यह भिन्नता जन्मजात अथवा आनुवांशिक (hereditary) आधार पर होती है जबकि कुछ समाज में व्यक्तियों की कुशलता और योग्यता के आध र पर इसमें परिवर्तन होता रहता है। पहली स्थिति को हम ''जातिगत स्तरीकरण' (Caste-Stratifica-tion) और दूसरी को ''वर्णगत स्तरीकरण' (Class-Stratification) के नाम से पुकारते हैं।''

सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ (Meaning of Social Stratification)

सामाजिक स्तरीकरण वह प्रक्रिया है; जिसके द्वारा सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था विभिन्न स्तरों में विभाजित हो जाती है। अन्य शब्दों में सामाजिक स्तरीकरण वह आधार है? जिस पर समाज के सदस्यों अथवा समूहों को उच्च व निम्न स्थितियों एवं वर्गों में विभाजित किया जाता है। इसी भिन्न स्थिति के आधार पर प्रत्येक सदस्य अथवा समूह के साथ भिन्न-भिन्न मात्रा में कार्यों का विभाजन अथवा समाज में उनको प्राप्त होने वाले आदर की मात्रा में अन्तर पाया जाता है। संक्षेप में, सामाजिक स्तरीकरण वह व्यवस्था है जो समाज को विभिन्न स्तरों में विभक्त करके सामाजिक जीवन को व्यवस्थित करने का प्रयास करती है।

सामाजिक स्तरीकरण की परिभाषा (Definition of Social Stratification)

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक स्तरीकरण एक विभेदीकरण की प्रक्रिया है; जिसमें समाज के सदस्य प्रतिष्ठा और आदर की दृष्टि से ऊँचे-नीचे पदों पर स्थित होते हैं। इस विभेदीकरण का प्रमुख कारण भूमिकाओं की असमानता है।

विभिन्न समाजशास्त्रियों ने सामाजिक स्तरीकरण की परिभाषाएँ निम्नलिखित दी हैं-

1. मेयर (K. B. Mayer) "सामाजिक स्तरीकरण विभेदीकरण की एक व्यवस्था है; जिसके अन्तर्गत सामाजिक पदों का सोपान क्रम होता है? जिन पर आसीन व्यक्ति सामाजिक दृष्टि में महत्त्वपूर्ण मामलों में एक-दूसरे से उच्च, समान या निम्न माने जाते हैं।

2. क्यूबर तथा केकल-"सामाजिक स्तरीकरण असमान विशेषाधिकारों की ऊपर से लागू की गई श्रेणियों का परिणाम है।

3. मूरे (Muray) ने सामाजिक स्तरीकरण को अधिक संक्षेप में स्पष्ट करते हुए कहा है, "स्तरीकरण समाज का वह क्रमबद्ध विभाजन है जिसमें सम्पूर्ण समाज को कुछ" उच्च' अथवा" निम्न' सामाजिक इकाइयों में विभक्त कर दिया गया हो।"

   "Stratification is a horizontal division of society into 'higher' and 'lower' social units.-Muray

   इस परिभाषा से स्पष्ट होता है कि सामाजिक स्तरीकरण का रूप एक सीढ़ी के समान है जिसमें कुछ समूह ऊपर होते हैं और कुछ उसकी तुलना के नीचे।

4. सदरलैण्ड और वुडवर्ड (Sutherland and Woodward) ने भी स्थिति सम्बन्धी भिन्नता के आधार पर सामाजिक स्तरीकरण को परिभाषित करते हुए कहा है, "स्तरीकरण केवल अन्तःक्रियाओं अथवा विभेदीकरण (Differentiation) की ही एक प्रक्रिया है, जिसमें कुछ व्यक्तियों को दूसरे व्यक्तियों की तुलना में उच्च स्थिति प्राप्त होती है।"

   "Stratification is a simple process of interaction of differentiation on whereby some people to rank higher than other." -Sutherland and Woodward

5. सोरोकिन (Sorokin) के शब्दों में-"सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ किसी जनसंख्या का मान्यता प्राप्त ऊँचे और नीचे वर्गों में विभेदीकरण है, जो उच्च और निम्न स्तरों के अस्तित्व से प्रकट होता है। इसका आधार और सार समाज में सदस्यों के बीच अधिकारों और सुविधाओं, कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों, सामाजिक मूल्यों और अभावों, सामाजिक शक्ति और प्रभावों के असमान वितरण से है।"

6. टालकोट पारसन्स ने सामाजिक संस्तरण की सुस्पष्ट परिभाषा देते हुए लिखा है, "यहाँ सामाजिक संस्तरण का तात्पर्य किसी सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करने वाले मानव से असमान पद-वितरण तथा कुछ सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मामलों में उनको ऊँच या नीच समझने से है।" पारसन्स के विचार से किसी समाज की सामान्य मूल्य व्यवस्था के मानदण्डों के आधार पर व्यक्तियों को ऊँचा या नीचा समझा जाता है। इन मानदण्डों के आधार पर मनुष्यों में असमानता पाई जाती है। पारसन्स के अनुसार सामाजिक मूल्यों के साथ आचरण की अनुरूपता की मात्रा मनुष्यों में एक-दूसरे से कम या अधिक सम्मान, अधिकार या सुविधाएँ प्रदान करने में सहायक होती है। यह मूल्यांकन सामाजिक संस्तरण को जन्म देता है।

7. किंग्सले डेविस (Davis) ने सामाजिक संस्तरण को सामाजिक असमानता का पर्यायवाची शब्द माना है। उसने सामाजिक संस्तरण की परिभाषा देते हुए लिखा है, "सामाजिक असमानता अचेतन रूप से विकसित पद्धति है; जिसके द्वारा समाज यह आश्वासन देता है कि सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पदों पर सोच-विचारकर सबसे अधिक योग्य व्यक्तियों की नियुक्तियाँ होती हैं।"

स्तरीकरण की उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि यह एक प्रक्रिया है; जिसके द्वारा सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था विभिन्न स्तरों में विभाजित होती है। इन स्तरों को उच्चता तथा निम्नता के आधार पर विभाजित किया जाता है।

संक्षेप में यह निष्कर्ष निकलता है कि सामाजिक मूल्यों के अनुसार समाज अनेक उच्च और निम्न समूहों में इस प्रकार विभक्त हो जाता है, जो एक-दूसरे से आन्तरिक और बाह्य रूप से सदैव सम्बन्धित रहें और सामाजिक व्यवस्था को स्थायी बनाने में अपना पूर्ण योगदान करते रहें।

सामाजिक स्तरीकरण की मुख्य विशेषताएँ (Chief Characteristics of Social Stratification)

ट्यूमिन (Melin M. Tumin) ने सामाजिक स्तरीकरण की निम्नलिखित विशेषताओं का वर्णन किया है-

1. सामाजिक स्तरीकरण पुरातन है-हमारे समाज में स्तरीकरण अति प्राचीन काल से विद्यमान रहा है। प्राचीन काल में इसके प्रमुख आधार आयु, लिंग, शारीरिक शक्ति, जन्म आदि गुण थे, लेकिन वर्तमान काल मे अर्जित गुणों को अधिक महत्त्व दिया जाता है। मार्क्स के अनुसार, "प्रत्येक समाज में हमेशा दो वर्ग विद्यमान रहे हैं-एक पूँजीपति, दूसरा श्रमिक। अतः कह सकते हैं कि वर्ग स्तरीकरण प्रत्येक समाज में बहुत पहले से ही विद्यमान रहा है।"

2. सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न स्वरूप हैं-अति प्राचीन काल में सामाजिक स्तरीकरण का सरलतम आधार यौन-भेद, आयु-भेद और शारीरिक शक्ति था। विश्व के सभी समाजों में व सभी कालों में इसका स्वरूप समान नहीं रहा है। भारत में जाति प्रथा के आधार पर स्तरीकरण पाया जाता है, तो यूरोप मे वर्ग व्यवस्था और अर्जित गुणों को अधिक महत्त्व दिया जाता है। इस प्रकार सभी समाजों में स्तरीकरण किन्हीं सामान्य नियमों द्वारा न होकर, स्थान, परिस्थिति एवं संस्कृति द्वारा प्रभावित होता है।

3. सामाजिक स्तरीकरण की प्रकृति सामाजिक है-सामाजिक स्तरीकरण कुछ ही व्यक्तियों तक सीमित न रहकर पूरे समाज में व्याप्त रहता है। सामजिक स्तरीकरण को आयु, रंग एवं यौन-भेद के आधार पर ही नहीं वरन् समाज में व्यक्तियों को प्राप्त विभिन्न पदों एवं परिस्थितियों के आध र पर भी समझा जा सकता है। समाजीकरण के द्वारा व्यक्ति सामाजिक मानदण्डों को सीखता है, और अचेतन रूप में स्तरीकरण को स्वीकार करता है।

4. सामाजिक स्तरीकरण प्रत्येक समाज में पाया जाता है-अति प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक कोई भी ऐसा समाज नहीं है जिसमें स्तरीकरण न पाया जाता हो। बोटोमोर के अनुसार, "समाजों का वर्गीकरण अथवा स्तरों में विभाजन; जिससे प्रतिष्ठा एवं शक्ति प्राप्त होती है, सामाजिक संरचना का एक सार्वभौमिक तत्त्व है।"

5. सामाजिक स्तरीकरण परिणामिक है-ट्यूमिन के अनुसार, "सामाजिक स्तरीकरण परिणामिक (Consequential) है। यह समाज में असमानता उत्पन्न करता है। इस असमानता को हम जीने के अवसर (Life Chances) तथा जीवन शैली (Life Style) में देख सकते हैं। किसी व्यक्ति को कितनी शक्ति, सम्पत्ति एवं मानसिक सन्तोष प्राप्त होगा, यह समाज में उसके स्तर पर निर्भर करता है। हर किसी व्यक्ति के जीवन-स्तर तथा जीवन-शैली में भिन्नता पाई जाती है।'

सामाजिक स्तरीकरण के आधार (Basis of Social Stratification)

समाज में व्यक्ति की स्थिति किस प्रकार निश्चित की जाए अथवा सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति को कौन-सा स्तर दिया जाए इस समस्या को ही समाज कुछ विशेष आधारों पर हल करता है। परन्तु प्रत्येक समाज में इसका आधार या स्वरूप एक समान नहीं होता है। इन आधारों या स्वरूपों को मुख्यतया दो भागों में विभाजित किया जा सकता है और इनमें से प्रत्येक भाग के एक से अधिक उपभोग भी हो सकते हैं। ये दो भाग हैं-(i) प्राणिशास्त्रीय आधार तथा (ii) सामाजिक-सांस्कृतिक आधार।

1. प्राणिशास्त्रीय आधार (Biological Basis)-प्रमुख प्राणिशास्त्रीय आधार निम्नलिखित हैं-

   (i) आयु (Age) आयु सामाजिक स्तरीकरण का प्रमुख आधार है। हम देखते हैं कि आयु के आधार पर समाज में पदों का वितरण होता है। आयु के आधार पर समाज में मुख्यतया चार स्तर होते हैं-शिशु, किशोर, युवा तथा प्रौढ़। हम सब यह देखते हैं कि जो सम्मान प्रौढ़ व्यक्ति को प्रदान किया जाता है वह शिशु या किशोर को नहीं प्रदान किया जाता। सिम्मन्स (L. Simmons) के मत में, "प्रायः सभी समाजों में प्रौढ़जनों की स्थिति सम्मान, आदर भाव तथा विशेष सुविध ओं से घिरी हुई होती है। आयु बढ़ने के साथ-साथ व्यक्ति अनुभव व ज्ञान को भी अधिकाधि क अपने में समेटने में सफल होता है; जिसके कारण उसकी स्थिति ऊँची हो जाती है।" भारतीय परिवारों में सबसे अधिक आयु का वृद्ध ही परिवार का मुखिया माना जाता

   (ii) लिंग (Sex)-लिंग के आधार पर दो स्तर-स्त्री व पुरुष माने जाते हैं। यह समाज का सबसे प्राचीन स्तरीकरण है। प्राचीन काल से मध्य काल तक लिंग के आधार पर ही समाज में श्रम-विभाजन तथा पदों का बँटवारा किया जाता था। अन्य शब्दों में पूर्व काल में स्त्री-पुरुषों की सामाजिक स्थिति तथा कार्यक्षेत्र में पर्याप्त अन्तर होता था। परम्परागत हिन्दू समाज तथा पितृसत्तात्मक परिवार वाले समाजों में पुरुषों की स्थिति ऊँची तथा स्त्रियों की नीची मानी जाती थी। हिन्दुओं में परिवार का मुखिया पुरुष ही होता है तथा सम्पत्ति का भी वही स्वामी होता है। इसके विपरीत हिन्दू समाज में नारी को एक अबला के रूप में माना जाता है तथा उससे यह आशा की जाती है कि वह जन्म से लेकर मृत्यु तक किसी न किसी पुरुष के संरक्षण में अवश्य रहे।

   परन्तु मातृसत्तात्मक परिवारों में उपर्युक्त स्थिति के विपरीत स्त्रियों की स्थिति ऊँची तथा पुरुषों की नीची होती है। खासी जनजाति इसका उदाहरण है। यहाँ पुरुष अपनी सारी कमाई शादी पूर्व अपनी माता को तथा शादी के पश्चात् पत्नी को देता है। किसी परिवार का परिचय स्त्री के नाम से ही दिया जाता है।

   (iii) प्रजाति (Race)-प्रजाति भिन्नता के आधार पर भी समाज में ऊँच-नीच का संस्तरण होता है। प्रायः देखा गया है कि जिस प्रजाति के लोग शासन व सत्ता में होते हैं। वह प्रजाति अपने को अन्य प्रजातियों से श्रेष्ठ मानती है। उदाहरण के लिए अमेरिका के निवासी अपने को सदा काली प्रजातियों से श्रेष्ठ मानते रहे। प्रजातिवाद की धारणा का प्रमुख प्रतिपादक हिटलर था। वह जर्मनीवासियों को आर्य मानता था तथा उसका दावा था कि विश्व की श्रेष्ठ जाति आर्य जाति है। उसे ही अन्य प्रजातियों पर शासन करने का अधिकार है।

   (iv) जन्म (Birth)-जन्म को भी सामाजिक स्तरीकरण का आधार माना जाता है। जो व्यक्ति उच्च कुल, वर्ग व जाति में जन्म लेते हैं वे अपने को निम्न कुल, वर्ग व जाति से श्रेष्ठ मानते हैं। भारत

में जाति प्रथा इसका उदाहरण है; जिसमें ब्राह्मणों को समाज में सदा उच्च स्थान मिला है।

(v) शारीरिक तथा मानसिक कुशलता (Physical and Mental ability)-आधुनिक युगमें व्यक्ति की परिस्थिति तथा स्थिति का निर्धारण, आयु, प्रजाति तथा जन्म के आधार पर न करके उसकी मानसिक व शारीरिक कुशलताओं के आधार पर किया जाता है। शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से दुर्बल व्यक्तियों की अपेक्षा शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ तथा बुद्धिमान व प्रतिभाशाली व्यक्तियों को समाज में अधिक सम्मान मिलता है।

2. सामाजिक-सांस्कृतिक आधार (Social-Cultural Basis)-सामाजिक स्तरीकरण के सामाजिक सांस्कृतिक कारक निम्नलिखित है:

(i) सम्पत्ति (Property)-सम्पत्ति सामाजिक स्तरीकरण का सदा एक प्रमुख आधार रहा है। पूँजीवादी समाजों में विशेष रूप से उन व्यक्तियों को उच्च सामाजिक स्तर प्राप्त होता है; जिनका उत्पादन के साधनों पर सबसे अधिक अधिकार होता है। जैसे-जैसे व्यक्ति की आर्थिक दशा गिरती जाती है, समाज में उसका स्तर भी गिरता जाता है।

(ii) राजनीतिक (Political)-श्री मुकर्जी के अनुसार, "राजनीतिक सत्ता के आधार पर भी ऊँच-नीच का स्तरीकरण हमें प्रायः सभी समाजों में देखने को मिलता है; जैसे-राजा और प्रजा अथवा शासक और शासित में ऊँच-नीच का संस्तरण हमें अवश्य देखने को मिलता है। उदाहरणार्थ हमारे देश में राष्ट्रपति की स्थिति शासन व्यवस्था के अन्तर्गत सर्वोच्च है, उसके पश्चात् क्रमशः उपराष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री तथा अन्य मन्त्री आते हैं।" इसी प्रकार जो राजनीतिक दल सत्ता में होता है उसकी स्थिति अन्य दलों की अपेक्षा उच्च तथा सम्माननीय होती है तथा उसके बाद विरोधी दल की होती है।

(iii) धार्मिक आधार (Religious Basis)-भारत में स्तरीकरण का यह आधार विशेष रूप से मान्य रहा है। हमारे यहाँ धार्मिक गुरुओं, साधु-सन्तों व ब्राह्मणों को समाज में सम्मान मिलता रहा है। इनकी सामाजिक स्थिति उनके धार्मिक ज्ञान और धर्म से सम्बन्धित होने के कारण ही ऊँची रही है; परन्तु वर्तमान युग में धर्म का प्रभाव कम होता जा रहा है। अतः इनका प्रभाव भी पूर्व की अपेक्षा कम होता जा रहा है।

(iv) व्यवसाय (Occupation) आजकल व्यवसाय भी सामाजिक स्तरीकरण का प्रमुख आध र है। उदाहरण के लिए इन्जीनियर, डॉक्टर तथा अध्यापक आदि को समाज में विशेष सम्मान दिया जाता है और मजदूर, नाई, धोबी आदि को उपेक्षित दृष्टि से देखा जाता है।

सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूप (Forms of Social Stratification)

टी. बी. बोटोमोर (T. B. Bottomore) ने मानव इतिहास में प्रचलित सामाजिक स्तरीकरण के अग्रलिखित चार स्वरूपों का वर्णन किया है-

1. दास प्रथा (Slavery)-दास प्रथा का प्रचलन अतीत काल से हर समाज में रहा है। दास प्रथा में सर्वाधिक ऊँच-नीच की भावना पाई जाती है। हॉबहाउस के मत में, "दास वह व्यक्ति है; जिसे कानून और परम्परा दोनों दूसरों की सम्पत्ति मानते हैं। कुछ विशिष्ट स्थिति में यह पूर्णतया अधि कारविहीन होता है तथा कुछ स्थितियों में उसकी रक्षा ठीक उसी प्रकार से की जाती है; की जाती है; जैसे एक बैल या गधे की।" दासों को व्यक्तिगत सम्पत्ति की तरह खरीदा व बेचा जाता था। प्रत्येक दास किसी

न किसी स्वामी के यहाँ अधिकारविहीन होकर कार्य करता था। स्वामी दास को अपनी सम्पत्ति मानता था। आधुनिक प्रजातंत्र के युग में दास प्रथा का पूर्णतया अन्त हो गया है।

2. जागीरें (Estate)-जागीर प्रथा का प्रचलन मध्यकालीन यूरोप में मुख्यता था। इसे कानूनी मान्यता भी प्राप्त थी। इसमें तीन वर्ग थे पादरी, जागीरदार या सरकार तथा जनता। प्रत्येक वर्ग का रहन-सहन, संस्कृति तथा जीवन-शौली एक दूसरे से भिन्न होती थी। बोटोमोर के अनुसार, जागीरों की निम्न तीन प्रमुख विशेषताएँ थीं-

(i) जागीरों में स्पष्ट श्रम विभाजन था। (ii) प्रत्येक जागीर को एक स्पष्ट परिभाषित प्रस्थिति तथा वैध निक मान्यता प्राप्त थी। (iii) जागीरें राजनीतिक समूह थीं।

3. जातीय स्तरीकरण (Caste Stratification)-जातीय स्तरीकरण का सर्वप्रमुख उदाहरण भारत में मिलता है। हिन्दू सामाजिक संगठन की आधारशिला जाति व्यवस्था ही है। जाति व्यवस्था में व्यक्ति के स्तर समूह का निर्धारण जन्म या आनुवांशिकता के आधार पर होता है; जिसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। कूले (C. H. Cooley) के मत में, "जब एक वर्ग पूर्णत: आनुवांशिकता पर आधारित होता है तो उसे हम जाति कहते हैं।"

   जे. एच. हट्टन (J. H. Hutton) ने जाति को परिभाषित करते हुए लिखा है-"जाति एक ऐसी व्यवस्था है; जिसके अन्तर्गत एक समाज आत्म-केन्द्रित एवं एक दूसरे से पूर्णतः पृथक् इकाइयों या जातियों में विभाजित रहता है। इन इकाइयों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध ऊँच-नीच के आधार पर सांस्कारिक रूप से निर्धारित होते हैं।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर जाति की निम्नलिखित विशेषताएँ निर्धारित की जा सकती हैं-

(i) जाति की सदस्यता जन्म से ही निश्चित होती है।

(ii) जातियों में उच्चता व निम्नता का स्तरीकरण होता है; जिनमें ब्राह्मण की स्थिति सर्वोच्च तथा शूद्रों की सबसे नीचे होती है।

(iii) प्रत्येक जाति दूसरी जाति के साथ खान-पान के सम्बन्ध के नियमों तथा प्रतिबन्धों का पालन करती है।

(iv) एक जाति के सदस्य दूसरी जाति में विवाह नहीं कर सकते। अन्य शब्दों में विवाह अपनी जाति में ही किया जा सकता है।

(v) प्रत्येक जाति का व्यवसाय निश्चित होता है।

4. वर्ग व्यवस्था (Class System)-वर्ग व्यवस्था को खुला स्तरीकरण भी कहा जा सकता है। इस प्रकार के स्तरीकरण वाले समाज में विभिन्न स्तर समूहों की सदस्यता का आधार जन्म या आनुवांशिकता न होकर व्यक्ति के गुण, योग्यता व आर्थिक उपलब्धियाँ होती हैं। श्री मुकर्जी के अनुसार, "इस प्रकार का स्तरीकरण आयु, पेशा, आय सम्बन्धी, धर्म, राजनीतिक सत्ता, शिक्षा, कार्य-कुशलता पर आधारित होता है क्योंकि उनके आधार पर व्यक्ति को एक निश्चित स्थिति प्राप्त हो जाती है।"

वर्ग व्यवस्था की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं-

1. वर्ग व्यवस्था में ऊँच-नीच का एक निश्चित क्रम पाया जाता है।

2. वर्ग व्यवस्था एक मुक्त व्यवस्था है, जिनमें एक वर्ग के लोग योग्यता व क्षमता के आधार पर दूसरे वर्ग में जा सकते हैं।
3. वर्गगत स्तरीकरण की प्रकृति अस्थिर व परिवर्तनशील होती है।
4. एक वर्ग के लोगों की सामाजिक स्थिति समान होती है।
5. वर्ग की सदस्यता अर्जित होती है।
6. धन, आय, व्यवसाय की प्रकृति तथा शिक्षा के आधार पर ही वर्ग का निर्धारण होता है।

सामाजिक स्तरीकरण का सिद्धान्त (Theories of Social Stratification)

समाजशास्त्रियों ने अनेकों सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है; जिनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं-

1. संघर्ष का सिद्धान्त (Conflict Theory)-इस सिद्धान्त के प्रतिपादक कार्ल मार्क्स हैं। इन्होंने सामाजिक स्तरीकरण को समाज में पाए जाने वाले संघर्ष के आधार पर स्पष्ट किया है। इस सिद्धान्त का वर्णन कार्ल मार्क्स ने अपनी पुस्तक कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो (Communist Manifesto) में किया है। उन्होंने लिखा है, "आज तक जो भी समाज अस्तित्व में आए, उनका इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है।"

इसका अर्थ है कि प्रत्येक युग में सामाजिक वर्ग मौजूद रहे हैं और उनमें आपस में संघर्ष रहा है। प्राचीन काल में, कुलीन व अकुलीन, स्वतन्त्र और दास, अत्याचारी व पीड़ित, सामन्त और अर्धदास आदि वर्ग रहे हैं। वर्तमान पूँजीवाद समय मे बुर्जुआ एवं सर्वहारा (श्रमिक)-दो वर्ग प्रमुख हैं, जो परस्पर संघर्ष में लगे रहते हैं। उच्च वर्ग ने हमेशा ही निम्नवर्ग का शोषण किया है।

कार्ल मार्क्स के अनुसार वर्गों का जन्म उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व अथवा अस्वामित्व के आधार पर होता है। इस आधार पर समाज में दो प्रधान एवं विरोधी वर्गों का जन्म होता है-

1. प्रथम तो वह जिसका उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व होता है।
2. दूसरा वह जो इससे वंचित होता है।

उत्पादन का ढंग भी इस बात पर निर्भर करता है कि वह समाज प्रौद्योगिकी के कौन-से स्तर पर है?

बोटोमोर कहते हैं कि मार्क्स सामाजिक व राजनीतिक परिवर्तन लाने में वर्गों की भूमिका में रुचि रखता है। वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था एवं प्रौद्योगिकी में उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व की दृष्टि से दो वर्गों का उदय हुआ है-1. पूँजीवादी वर्ग, 2. श्रमिक वर्ग। पूँजीपति अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने के लिए श्रमिकों को कम से कम देना चाहता है। श्रमिक इसका विरोध करते हैं, परन्तु पूँजीपति अपनी आर्थिक व राजनैतिक शक्ति के बल पर श्रमिकों के विरोध का दमन कर देते हैं। लेकिन उद्योगों का एक स्थान पर केन्द्रीयकरण होने, यातायात के साधनों का विकास होने, पूँजीपति व श्रमिकों के बीच दूरी बढ़ने आदि के कारण श्रमिक वर्ग में एकता एवं चेतना की वृद्धि होती है। वह एकमत व एकजुट होकर पूँजीपतियों से संघर्ष करते हैं व सफलता भी प्राप्त करते हैं। इस प्रकार मार्क्स आर्थिक कारण को ही वर्ग का आध र मानता है। धर्म, कला, ज्ञान, विज्ञान, संस्कृति, दर्शन एवं साहित्य सभी कुछ समाज की अर्थव्यवस्था से ही प्रभावित होते हैं।

कार्ल मार्क्स श्रमिकों को अपने लक्ष्यों की पूर्ति के लिए जागरूक एवं एकजुट होने का आमन्त्रण देते हैं। वह कहते हैं कि, "दुनिया के मजदूर एक हो जाओ, तुम्हें तुम्हारी बेड़ियों के सिवाय कुछ नहीं खोना है।" (Workers of the world unite, You have to loose nothing except your chains.)

कार्ल मार्क्स ने पूँजीपतियों से किसी भी प्रकार से समझौता न करने को कहा है। कार्ल मार्क्स हमेशा ही श्रमिकों की जीत के विषय में सोचते रहे हैं।

आलोचना-अनेकों विद्वानों के द्वारा कार्ल मार्क्स के वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त की निम्न प्रकार से आलोचनाएँ की गई हैं

1. कार्ल मार्क्स ने अपने सिद्धान्त में आर्थिक कारणों को जरूरत से ज्यादा ही महत्त्व दिया है व धार्मिक, सांस्कृतिक व सामाजिक कारणों की अवहेलना की है
2. सभी समाजों के वर्ग होते हैं अतः मार्क्स द्वारा वर्गहीन समाज का आदर्श केवल एक कल्पना है। इसको व्यवहार में लाना असम्भव है।
3. कार्ल मार्क्स ने अपने सिद्धान्त में यह भी नहीं बताया है कि वर्ग-विहीन समाज में सामाजिक स्तरीकरण का आधार क्या होगा।
4. जॉनसन के अनुसार, "उत्पादन के दौरान संघर्ष के स्थान पर सहयोग अधिक होता है, बिना सहयोग के तो उत्पादन हो ही नहीं सकता है; अतः श्रमिकों व पूँजीपतियों में हमेशा ही संघर्ष की बात सही प्रतीत नहीं होती है।"
5. कार्ल मार्क्स ने राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था।
6. जिन समाजों में वर्ग व्यवस्था है, वहाँ तो वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त लागू हो सकता है, लेकिन भारत जैसे देश में जहाँ जाति प्रथा पूर्ण रूप से अपनी जड़ें फैलाए बैठी है, वहाँ यह सिद्धान्त लागू नहीं हो सकता है।
7. मार्क्स की भविष्यवाणियों के अनुसार आज वर्गों का विकास नहीं हो रहा है।
8. आज के समय में सरकार व पूँजीपतियों ने श्रमिकों के कल्याण के लिए अनेकों कार्य किए हैं जिस कारण से उनमें संघर्ष के स्थान पर सहयोग की भावना का अधिक विकास हुआ है।

2. प्रकार्यवादी सिद्धान्त (Functional Theory)-सामाजिक स्तरीकरण के" प्रकार्यवादी सिद्धान्त' का प्रतिपादन किंग्सले डेविस तथा विलबर्ट मूर ने अपने लेख में 'Principles of Stratification' में किया है। इनके विचारानुसार कोई भी समाज वर्ग-विहीन नहीं है, सभी समाजों में संस्तरण पाया जाता है। सभी समाजों में स्तरीकरण; इसलिए पाया जाता है क्योंकि प्रत्येक समाज यह महसूस करता है कि सामाजिक संरचना में व्यक्तियों का कोई न कोई निश्चित स्थान अवश्य ही होना चाहिए। इस प्रकार सामाजिक विषमता प्रत्येक समाज में अचेतन रूप में विकसित होती है।

डेविस के अनुसार," समाज के विभिन्न पदों के लिए विभिन्न योग्यता एवं बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है तथा कुछ व्यक्तियों का महत्त्व अधिक होता है।" समाज में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कार्यो को करने के लिए विशेष योग्यता एवं प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। इन प्रशिक्षणों को प्राप्त करने के लिए अत्यधि क धन की आवश्यकता होती है। इसी कारण सभी व्यक्ति इन्हें प्राप्त नहीं कर सकते हैं। अत: इन उच्च पदों के लिए समाज अधिक सुविधा की व्यवस्था करता है। उदाहरणार्थ-डॉक्टर, इन्जीनियर, आई. ए. एस. आदि के लिए समाज द्वारा अधिक वेतन और सुविधाओं की व्यवस्था की गई है।

डेविस के अनुसार समाज द्वारा तीन प्रकार के पुरस्कार प्रदान किए जाते हैं-

1. समाज उन वस्तुओं को प्रदान करता है जो व्यक्तियों के लिए जीवन धारण एवं आराम के लिए

आवश्यक होती हैं।

2. समाज आत्म सम्मान एवं अहम् की सन्तुष्टि करने वाली वस्तुओं को प्रदान करता है।
3. समाज मन-बहलाव तथा सौन्दर्य व बोधात्मक प्रकृति की वस्तुएँ प्रदान करता है।

इस प्रकार जब समाज में कुछ लोगों को अधिक पुरस्कार, अधिकार व सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं और कुछ लोगों को कम तो समाज में स्वतः ही स्तरीकरण का जन्म हो जाता है।

डेविस के अनुसार, यह सिद्धान्त बन्द एवं मुक्त दोनों ही समाजों पर लागू होता है, क्योंकि स्तरीकरण में व्यक्तियों का नहीं वरन् पदों का क्रम-विन्यास होता है। अतः स्पष्ट होता है कि स्तरीकरण एक सार्वभैमिक तथ्य है।

आलोचना-बोटोमोर ने प्रकार्यवादी सिद्धान्त की आलोचनाएँ निम्न प्रकार से की हैं :

1. उपर्युक्त सिद्धान्त व्यक्तियों के पदों की अवधारणा पर आधारित है न कि सामाजिक समूह और वर्ग पर।
2. इस सिद्धान्त में सामाजिक स्तरीकरण व राजनीतिक संघर्ष के मध्य के सम्बन्धों पर प्रकाश नहीं डाला जाता है।
3. इस सिद्धान्त की यह बात सही है कि स्तरीकरण एक सार्वभौमिक तथ्य है व सभी समाजों में पदों की एक सुनिश्चित व्यवस्था होती है।
4. यह सिद्धान्त सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न प्रकारों में परिवर्तन की प्रक्रिया का भी विवरण प्रस्तुत नहीं करता है। यह उन्हें केवल स्वीकार ही करता है।
5. प्रकार्यवादी सिद्धान्त के अनुसार कही गई; सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थितियाँ और" सर्वाधिक योग्य व्यक्तियों' इन दोनों ही शब्दावलियों का अर्थ स्पष्ट नहीं होता है क्योंकि समाज में सभी पद और व्यक्ति अपने-अपने कार्यो के अनुसार महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि प्रत्येक समाज को सभी प्रकार के कार्यों व व्यक्तियों की हमेशा आवश्यकता होती है।
6. इस सिद्धान्त में कहा गया यह कथन भी सही प्रतीत नहीं होता है कि, "महत्त्वपूर्ण पदों पर केवल योग्य व्यक्ति ही पहुँच पाते हैं" इसके विपरीत "आजकल के समय में उच्च पदों पर केवल वही व्यक्ति ही पहुँच सकता है; जिसकी ऊँची सिफारिश या उच्च अधिकारियों की जेबें भरने के लिए धन हो।'

उपर्युक्त आलोचनाएँ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं लेकिन बोटोमोर की इस आलोचना को अक्षरशः स्वीकार नहीं किया जा सकता है कि, "स्तरीकरण सार्वभौमिक नहीं है।

3. मैक्स वेबर का सिद्धान्त (Theory of Max Weber) मैक्स वेबर ने भी कार्ल मार्क्स की तरह स्तरीकरण उत्पन्न करने में वर्गों के महत्त्व को स्वीकार किया है। मैक्स वेबर वर्ग के निर्धारण में आर्थिक कारकों के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार सम्पत्ति पर अधिकार, असामाजिक अवसर, जीवन सम्बन्धी सुविधाओं एवं निर्धारण के लिए महत्त्वपूर्ण है। वेबर आर्थिक सत्ता एवं शक्ति को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। वेबर सम्पत्ति के आधार पर दो वर्ग बताते हैं-एक सम्पत्ति का अधिकारी एवं दूसरा सम्पत्तिविहीन। इस प्रकार सत्ता व सम्मान भी समाज में स्तर पैदा करते हैं। अधिक धनी व्यक्तियों का समाज में विशेष सम्मान होता है तथा वह सत्ता को प्राप्त करने की शक्ति रखते हैं। वेबर के अनुसार इसी प्रकार सम्पत्ति, शक्ति व सम्मान समाज में स्तरीकरण पैदा करते हैं।

सामाजिक स्तरीकरण के प्रकार्य अथवा महत्त्व
(Functions or Importance of Social Stratification)

उच्चतर एवं निम्नतर सामाजिक इकाइयों में समाज का क्षैतिक विभाजन होने के कारण ऊपरी तौर पर ऐसा प्रतीत होता है कि इसके द्वारा समाज विभिन्न स्तरों में बँट जाता है और उसमें ऊँच-नीच की भावना पनपने लगती है, परन्तु यह भी सत्य है कि सामाजिक स्तरीकरण सार्वभौमिक सत्य है। सभी समाजों में व कालों में पाया जाता रहा है, अतः इसके सर्वव्यापी महत्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। कुछ विद्वानों का यहाँ तक विचार है कि सामाजिक असमानता की एक व्यवस्थित प्रणाली के बिना कोई भी समाज जीवित नहीं रह सकता। वास्तविकता यह है कि समाज में व्यक्तियों की योग्यता, बुद्धि व कुशलता में भेद होने के कारण ही कुछ व्यक्ति प्रगति करते हैं तथा कुछ व्यक्ति पिछड़ जाते हैं। इस प्रकार समाज में स्तरीकरण उत्पन्न हो जाता है। व्यक्ति तथा समाज की दृष्टि से स्तरीकरण का निम्नलिखित महत्त्व है-

1. श्रम विभाजन का सरल रूप सामाजिक स्तरीकरण के द्वारा समाज कुछ स्तरों में विभाजित होता है तथा प्रत्येक स्तर के कुछ निर्धारित कार्य होते हैं, जिन्हें प्रत्येक सदस्य पूरा करता है। इस प्रकार सामाजिक कार्यों का विभाजन अपने आप हो जाता है।

2. अधिक कार्य करने की प्रेरणा देना-स्तरीकरण उच्च पद की प्राप्ति के लिए कठिन परिश्रम करने की प्रेरणा देता है। एक विद्वान के मत में

   "प्रत्येक समाज में विभिन्न कार्यों के लिए भिन्न-भिन्न पुरस्कार दिए जाते हैं। जिन कार्यों को समाज में अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता है; उनको करने वाले व्यक्तियों को अधिक अधिकार और अधिक सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। स्वाभाविक है कि अधिक साधनों की सहायता से महत्त्वपूर्ण कार्यों में लगे हुए व्यक्ति शिक्षा, उद्योग, राजनीति और औद्योगिक क्षेत्र में बहुत आगे बढ़ जाते हैं। इससे समाज के निचले वर्ग को अधिक कार्य करने की प्रेरणा मिलती है। यदि समाज सभी व्यक्तियों को हमेशा समान बनाए रख सकता, तो उन्हें भिन्न-भिन्न मात्रा में पुरस्कार देने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। लेकिन जब व्यक्तियों को अपने लिए सभी साधन स्वयं जुटाने पड़ते हैं तो यह भी आवश्यक है कि उन्हें कार्य करने की एक प्रेरणा जरूर मिलती रहे। यह प्रेरणा सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था से ही मिल सकती है।

3. सामाजिक सम्बन्धों का निर्धारण-सामाजिक स्तरण के आधार पर समाज की विभिन्न इकाइयाँ ऊँच-नीच के क्रम में ही विभाजित नहीं होतीं वरन् उसी क्रम के अनुसार उनके बीच पारस्परिक सम्बन्ध भी निश्चित होते हैं। एक इकाई दूसरी इकाई के साथ किस प्रकार से सम्बन्ध रखे; यह सामाजिक स्तरीकरण के द्वारा ही निश्चित होता है।

4. प्रतियोगिता द्वारा प्रगति के अवसर-समाज के द्वारा कुछ प्रमुख पदों के लिए उच्च प्रतिष्ठा या अन्य पुरस्कार प्रदान करने पर व्यक्तियों में प्रतियोगिता का होना स्वाभाविक है अतः योग्य व्यक्ति ऊपर उठने का प्रयास करते हैं।

5. पारस्परिक संघर्ष से रक्षा-समाज में यदि स्तरीकरण की व्यवस्था नहीं होती तो सभी व्यक्ति बिना योग्यता और कुशलता को देखे हुए सभी अधिकारों को प्राप्त करने का प्रयास करते, फलस्वरूप समाज में संघर्ष होता। परन्तु सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था प्रत्येक पद के दायित्वों को निर्धारित करती है।

6. आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक-हम सब यह जानते हैं कि व्यक्तियों की अनेक शारीरिक, मानसिक, सामाजिक व सांस्कृतिक आवश्यकताएँ होती हैं, परन्तु एक व्यक्ति अपनी समस्त प्रकार

की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। सामाजिक स्तरीकरण के द्वारा व्यक्तियों व समूहों में भिन्न-भिन्न कार्यों का विभाजन हो जाता है; जिससे कि सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति सरलता से सम्भव होती है।

7. सामाजिक परिवर्तन में सहायक-देखने में सामाजिक स्तरीकरण परिवर्तन विरोधी ज्ञात होता है परन्तु यह अप्रत्यक्ष रूप में परिवर्तन को प्रोत्साहन भी देता है। उदाहरण के लिए समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपनी कार्यक्षमता तथा योग्यता में वृद्धि करके उच्च प्रस्थिति को प्राप्त कर लेता है तो उसके रिक्त किए गए स्थान को नवीन व्यक्ति ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार समाज में परिवर्तन की प्रक्रिया चलती रहती है।

8. मनोवृत्तियों का निर्धारण-ओल्सन के मतानुसार सामाजिक स्तरीकरण का एक प्रमुख कार्य मानव मनोवृत्तियों का निर्धारण करना है। समाज विभिन्न व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न पद तथा अधिकार प्रदान करके उन्हें इस बात का आभास कराता है कि उनकी क्रियाओं और मनोवृत्तियों का यथार्थ स्तर क्या है। अन्य शब्दों में सामाजिक स्तरीकरण प्रत्येक व्यक्ति को अपनी मनोवृत्तियों के विषय में सजग करके उन्हें अपनी प्रगति करने के लिए अवसर प्रदान करता है।

9. सामाजिक प्रगति में सहायक – जैसा कि हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं, सामाजिक स्तरीकरण में ऊँचे व नीचे पदों की व्यवस्था होती है। अधिकांश व्यक्ति उच्च पदों को प्राप्त करने के लिए प्रतिस्पर्द्धा करते हैं तथा आवश्यकता के अनुसार कठिन श्रम करते हैं। ये समस्त कार्य सामाजिक प्रगति में सहायक होते हैं।

10. शक्ति सन्तुलन बनाए रखना-स्तरीकरण समाज में शक्ति सन्तुलन बनाए रखने में सहायक होता है। स्तरीकरण व्यवस्था में अल्पसंख्यकों में ही ऐसे लोग होते हैं; जिनके पास महत्वपूर्ण पद और शक्ति होती है। इसके विपरीत विशेष अधिकार तथा शक्तिहीन लोगों की संख्या अधिक होती है। अपनी अधिक संख्या के कारण ये लोग पद उच्च प्राप्त शक्तिसम्पन्न लोगों के अनुचित कार्यों व गतिविधियों पर नियन्त्रण रखकर समाज में शक्ति सन्तुलन बनाए रखते हैं।

सामाजिक स्तरीकरण के अकार्य या दोष
(Disfunction or Demerits of Social Stratification)

सामाजिक स्तरीकरण के उपर्युक्त महत्त्व से यह तात्पर्य नहीं है कि सामाजिक व्यवस्था पूर्णतया दोषमुक्त है। वास्तव में प्रत्येक स्थिति में स्तरीकरण लाभदायक हो, यह आवश्यक नहीं है। इसके निम्नलिखित दोष हैं-

1. समानता विरोधी-सामाजिक स्तरीकरण का सिद्धान्त समानता विरोधी सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के कारण समाज में असमानता फैलती है, जो व्यक्ति समाज में ऊँचा स्थान प्राप्त कर लेते हैं; उनकी सन्तान अयोग्य होने पर भी उस स्थान की वंशानुगत स्वामी बनी रहती है। इसी प्रकार श्रमिकों की सन्तान प्राय: श्रमिक-कर्म ही करती है।

2. असुरक्षा-स्तरीकरण प्रतियोगिता तथा प्रतिस्पर्धा को विशेष रूप से प्रोत्साहित करता है, जिससे वह सदा असुरक्षा का अनुभव करता है। उच्च पद पर पहुँचने के पश्चात् यह आवश्यक नहीं कि व्यक्ति उस पद पर बना रहे।

3. निष्क्रियता को प्रोत्साहन-जन्मगत स्तरीकरण में व्यक्ति वंशानुगत रूप में निश्चित पद प्राप्त कर लेता है। इस पद में परिवर्तन न होने से उनमें निष्क्रियता आ जाती है।

4. पक्षपातपूर्ण वर्ग चेतना सामाजिक स्तरीकरण में विभिन्न वर्ग बन जाते हैं; जिनमें वर्ग चेतना का उदय होने लगता है। प्रत्येक वर्ग अपने हितों के प्रति पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण रखता है तथा अन्य वर्गों के हितों की उपेक्षा करता है।

5. सामाजिक संघर्ष का जनक-सामाजिक स्तरीकरण समाज में संघर्ष उत्पन्न करता है। स्तरीकरण के कारण समाज विभिन्न वर्गों में विभाजित हो जाता है। इन वर्गों में कुछ के पास विशेष अधिकार होते हैं; जिससे वह अधिकारविहीन वर्ग का शोषण करता है। यह स्थिति समाज में संघर्ष को जन्म देती है।

6. निराशा का जन्म-सामाजिक स्तरीकरण समाज में निराशा को जन्म देता है। इस व्यवस्था में प्रत्येक स्तर अपने से भिन्न स्तर में जो योग्य और प्रतिभाशाली व्यक्ति होते हैं; वे अपनी कुशलता में वृद्धि नहीं कर पाते तथा निराशा में डूबे रहते हैं।

7. व्यक्तित्व के विकास में बाधक-व्यक्तित्व के विकास में हीनता की भावना सबसे अधिक बाध क होती है। स्तरीकरण के कारण निम्न वर्ग के लोग सदा हीनता की भावना से ग्रसित रहते हैं; अतः उनके व्यक्तित्व का समुचित विकास नहीं हो पाता है।

bdkb&10

lkekftd xfr'khyrk] vFkZ] çdkj

सामाजिक गतिशीलता वह उच्च अथवा निम्न बदलाव है जो सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था के अन्तर्गत एक सामाजिक स्थिति से दूसरी स्थिति की तरफ होता है; जिसका व्यक्ति एक सदस्य होता है। मूल्य-मान में कोई परिवर्तन अथवा विशेषताओं में कोई परिवर्तन विभिन्न सामाजिक वर्गों की प्रस्थिति में भी परिवर्तन ला देता है। इस प्रकार विभिन्न समाजों अथवा उसी समाज में विभिन्न समयों पर विभिन्न व्यवसायों को प्रतिष्ठा की विभिन्न मात्रा प्राप्त होती है; उदाहरणार्थ-भारत के सन्दर्भ में प्राचीन समय में पुरोहित वर्ग के सदस्यों को अन्य वर्गों के सदस्यों की अपेक्षा अधिक उच्च स्थान प्राप्त था, किन्तु वर्तमान में ऐसा नहीं है। आज एक डॉक्टर या इन्जीनियर का स्थान पुरोहित के स्थान से उच्च है। इस गति को सामाजिक गतिशीलता कहा जाता है।

सामाजिक गतिशीलता के स्वरूप (Forms of Social Mobility)-सामाजिक गतिशीलता के दो स्वरूप हैं; जिन्हें क्षैतिज एवं लम्बवत् गतिशीलता कहते हैं-

1. क्षैतिज गतिशीलता (Horizontal Mobility)-क्रम विन्यास के लम्बवत् स्वरूप को प्रभावित किए बिना व्यक्तियों या समूहों का एक प्रस्थिति से दूसरी प्रस्थिति की तरफ जाना, जबकि सामाजिक प्रस्थिति में कोई परिवर्तन न हो क्षैतिज गतिशीलता कहलाता है। दूसरे शब्दों में, क्षैतिज गतिशीलता का अर्थ निवास-स्थान अथवा व्यवसाय के परिवर्तन से है, जिसमें प्रस्थिति का परिवर्तन नहीं होता; उदाहरणार्थ-एक अध्यापक उसी रूप में कार्यरत रहता है इसी प्रकार एक मिल का मजदूर दूसरी मिल में मजदूरी-कार्य करने लगता है।

2. लम्बवत् या उदग्र गतिशीलता (Vertical Mobility)-लम्बवत् गतिशीलता का अभिप्राय उस परिवर्तन या बदलाव से है; जिसमें समूह एवं व्यक्तियों के मध्य असमान प्रस्थिति के सन्दर्भ में परिवर्तन होता है। अन्य शहरों में उदग्र गतिशीलता जीवन के तीनों क्षेत्रों अर्थात् वर्ग, व्यवसाय एवं सत्ता या किसी एक क्षेत्र में गति से सम्बन्धित है।

   ऊपर या नीचे व्यक्ति की गतिशीलता इस तथ्य का माप है कि उसी प्रदत्त प्रस्थिति एवं प्राप्त प्रस्थिति में क्या सम्बन्ध है।

NOTES

3. सामाजिक गतिशीलता अपरिहार्य है (Social Mobility is Inevitable)-सामाजिक परिवर्तन एक प्राकृतिक प्रक्रिया है और जिस क्षण सामाजिक परिवर्तन होता है; उसी क्षण सामाजिक गतिशीलता भी होती है। सम्भवतः कोई भी समाज सामाजिक गतिशीलता का पूर्णतः निषेध नहीं करता है और न ही कोई समाज अगतिशील होता है; उदाहरणार्थ-यदि हम यह चाहें कि प्रत्येक जाति पीढ़ी दर पीढ़ी उसी प्रस्थिति को प्राप्त किए रखे तो प्रत्येक जाति में जनसंख्या प्रतिस्थापन की दर समान होनी आवश्यक है। परन्तु जैसा कि प्रकृति का नियम है; कुछ जातियों की जनसंख्या में वृद्धि आती है तो अन्य में घट जाती है। उन जातियों के लिए जिनकी जनसंख्या में वृद्धि होती है, कुछेक नए व्यवसायों को खोजना होगा, जबकि घटने वाली जातियों की जनसंख्या का घटना अथवा बढ़ना सामाजिक अगतिशीलता को जन्म देता है।

प्रत्येक समाज वैयक्तिक आकांक्षा के लिए कुछ अवसर प्रदान करता है। यदि समाज इस तरह की व्यवस्था न करता तो समाज में प्रगति सम्भव नहीं थी। प्रत्येक व्यवस्था में विभिन्न उपलब्धियों के लिए विभिन्न पुरस्कार होते हैं तथा मनुष्य सबसे अधिक पुरस्कृत उपलब्धि को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। यह विश्वास कि व्यक्ति अपने वैध प्रयत्नों से उन्नति कर सकता है; सामाजिक प्रगति का आधार है। सामाजिक मान मूल्यों के मान से सम्बन्धित एवं उसके ऊपर आधारित हैं। कोई समूह जो अपने मानकों को उन्नत करता है, अपनी सामाजिक प्रस्थिति को भी उन्नत कर लेगा और अपरिहार्य रूप से कुछ समूह स्वयं को उन्नत करने का प्रयास करेंगे। इस प्रकार विभिन्न विशेषताओं के लिए विभिन्न मूल्यों की व्यवस्था स्वयं ही लोगों को सामाजिक प्रस्थिति के मान में ऊपर जाने के लिए अभिप्रेरित करती है।

स्व-प्रगति की जाँच करें :

1. सामाजिक स्तरीकरण की परिभाषा के सम्बन्ध में मेयर के विचार स्पष्ट करें।
2. कार्ल मार्क्स के अनुसार वर्गों का जन्म उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व के आधार पर होता है। इसे स्पष्ट करें।
3. प्रकार्यवादी सिद्धान्त क्या है? स्पष्ट करें।
4. क्या आप ऐसा मानने को तैयार हैं कि सामाजिक गतिशीलता पर किसी समाज में विद्यमान श्रम विभाजन की मात्रा का भी प्रभाव होता है?

उन तत्त्वों में जो किसी समाज में गतिशीलता की कुछ भाषा को अपरिहार्य बनाते हैं, हेनरी एम. जानसन ने निम्नलिखित को महत्वपूर्ण बतलाया है-

1. सामाजिक प्रतिष्ठा अन्ततः स्वीकृत मूल्य व्यवस्था पर निर्भर होती है। यदि उपलब्धियों के कुछेक गुणों को सामाजिक रूप में मूल्यवान समझा जाता है, तो कुछ लोग उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे।
2. बुद्धि एवं अन्य प्रकार की क्षमताएँ केवल उच्च श्रेणियों की बपौती नहीं हैं। कृषकों एवं श्रमिकों के बच्चों के लिए समाज में सर्वोच्च पदों तक पहुँचना असामान्य नहीं है।
3. विभिन्न प्रकार के कौशल की माँग में गति की भिन्न दरों पर परिवर्तन सदा होते रहे हैं।
4. प्रत्येक वर्ग की जन्म-दर उस वर्ग के सभी पदों को पूर्ण रूप से नहीं भर पाती।
5. उच्च वर्गों में जन्म; कभी-कभी अनेक व्यक्तियों में आत्मतृप्ति की भावना विकसित कर देता है।

इस प्रकार हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि समाज में अवसर की असमानता के बाधक तत्त्व के बावजूद प्रत्येक समाज में काफी गतिशीलता घटित होती रहती है। समाजशास्त्री सामाजिक गतिशीलता का अध्ययन किसी सामाजिक संरचना की सापेक्ष उन्मुक्तता का पता लगाने के लिए करते हैं।

गतिशीलता की मात्रा (Amount of Mobility)-सामाजिक गतिशीलता ऊर्ध्वगामी अथवा अधोगामी हो सकती है। अधोगामी गतिशीलता प्रत्येक समाज में स्वीकृत है। यदि उच्च वर्ग का सदस्य उस वर्ग से अपेक्षित मानकों का पालन नहीं करता, तो वह वर्ग प्रस्थिति से नीचे गिर जाएगा। भारत में किसी व्यक्ति को अपनी जाति से निचली जाति में विवाह कर लेने पर जाति से बहिष्कार किया जा सकता है। जहाँ तक उर्ध्वगामी गतिशीलता का प्रश्न है; किसी भी समाज में इसका पूर्ण निषेध नहीं होता, परन्तु इसकी समग्रता एवं मात्रा कुछेक तत्त्वों पर निर्भर है। ये तत्त्व निम्नलिखित हैं-

1. सामाजिक परिवर्तन (Social Change) सामाजिक परिवर्तन गतिशीलता के लिए अनुकूल अथवा बाधक तत्त्वों के रूप में कार्य करता है। तीव्र सामाजिक परिवर्तन की स्थितियाँ तथा औद्योगिक क्रान्ति अथवा प्रदेशीय विस्तार सामाजिक गतिशीलता को अवसर प्रदान करती है, जबकि अत्यल्प प्रौद्योगिकी अथवा प्रादेशिक परिवर्तन व्यक्ति को प्रदत्त प्रस्थिति से ऊँचा उठने का अवसर देती है। यह ध्यान रहे कि राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक अथवा अन्य क्रान्तियाँ तीव्र सामाजिक गतिशीलता को जन्म दे सकती हैं; जिससे उच्च श्रेणी के लोग सामाजिक मान के निम्न स्तर पर तथा निम्न स्तर के लोग उच्च श्रेणियों में पहुँच जाते हैं।

2. संचरण (Communication)-कोई ऐसी व्यवस्था; जो वर्गों के मध्य संचरण को परिसीमित करती है, अथवा जीवन अवस्थाओं के ज्ञान को अपने वर्ग तक ही सीमित रखती है, सामाजिक गतिशीलता को निरुत्साहित करती है। इसके विपरीत, ऐसी व्यवस्था जिसमें सभी वर्गों के सदस्य; दूसरे वर्गों की जीवन अवस्थाओं से परिचित होते हैं, गतिशीलता को सुगम बनाती है। निःसन्देह गतिशीलता की मात्रा का निर्धारण उन अवसरों एवं आवश्यकताओं से; जो विभिन्न वर्गों में विद्यमान हैं तथा उन परम्पराओं से जो दूसरे वर्ग के सदस्यों के प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगाती हैं, होगा।

3. श्रम विभाजन (Division of Labour) अन्त में, सामाजिक गतिशीलता पर किसी समाज में विद्यमान श्रम विभाजन की मात्रा का भी प्रभाव होता है। यदि श्रम विभाजन अत्यधिक विकसित अवस्था में है, तथा विशेषीकरण एवं कुशलतम प्रशिक्षण की मात्रा बहुत उत्तम है तो एक वर्ग के सदस्य के लिए दूसरे वर्ग में प्रवेश कठिन होता है। इसी प्रकार ऐसी पूर्ण परिभाषित जातियाँ; जिन्हें कुछेक परम्परागत कार्य सुपुर्द किए गए हैं, इस तथ्य के बावजूद कि अन्य दशाएँ सामाजिक गति के अनुकूल हैं, सामाजिक गतिशीलता को अवरुद्ध कर सकती हैं।

सारांश

आर्थिक प्रगति किसी देश में गतिशीलता की दर को निर्धारित करने में महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। आर्थिक प्रगति औद्योगीकरण से सम्बद्ध है तथा औद्योगीकरण गतिशीलता की ऊँची दर से। इस विषय पर ओसोवस्की का कथन है कि" समाजवादी व्यवस्था में पूँजीवादी व्यवस्था की अपेक्षा आर्थिक विकास की अधिक आवश्यकता है। अतएव समाजवादी राज्यों के नेताओं का एक तात्कालिक लक्ष्य औद्योगीकरण, नगरीकरण, संचार के साधनों के विकास एवं जनशिक्षा में अधिक उन्नत पूँजीवादी देशों के स्तर को प्राप्त करना था। इन सभी प्रक्रियाओं में समाजवादी तथा अन्य देशों में भी सामाजिक गतिशीलता की वृद्धि निहित है।

सामाजिक गतिशीलता की दर विभिन्न समाजों में भिन्न-भिन्न होती है। भारत के सन्दर्भ में सामाजिक गतिशीलता की दर जाति व्यवस्था तथा कृषि-संस्कृति के कारण अपेक्षाकृत कम है।

स्व-प्रगति की जाँच के उत्तर :

1. मेयर (K. B. Mayer)-"सामाजिक स्तरीकरण विभेदीकरण की एक व्यवस्था है; जिसके अन्तर्गत सामाजिक पदों का सोपान क्रम होता है? जिन पर आसीन व्यक्ति सामाजिक दृष्टि में महत्त्वपूर्ण मामलों में एक-दूसरे से उच्च, समान या निम्न माने जाते हैं।"

2. कार्ल मार्क्स के अनुसार वर्गों का जन्म उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व अथवा अस्वामित्व के आधार पर होता है। इस आधार पर समाज में दो प्रधान एवं विरोधी वर्गों का जन्म होता है-

1. प्रथम तो वह जिसका उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व होता है।
2. दूसरा वह जो इससे वंचित होता है।

उत्पादन का ढंग भी इस बात पर निर्भर करता है कि वह समाज प्रौद्योगिकी के कौन-से स्तर पर है?

बोटोमोर कहते हैं कि मार्क्स सामाजिक व राजनीतिक परिवर्तन लाने में वर्गों की भूमिका में रुचि रखता है। वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था एवं प्रौद्योगिकी में उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व की दृष्टि से दो वर्गों का उदय हुआ है-1. पूँजीवादी वर्ग, 2. श्रमिक वर्ग। पूँजीपति अधि काधिक लाभ प्राप्त करने के लिए श्रमिकों को कम से कम देना चाहता है। श्रमिक इसका विरोध करते हैं, परन्तु पूँजीपति अपनी आर्थिक व राजनैतिक शक्ति के बल पर श्रमिकों के विरोध का दमन कर देते हैं। लेकिन उद्योगों का एक स्थान पर केन्द्रीयकरण होने, यातायात के साधनों का विकास होने, पूँजीपति व श्रमिकों के बीच दूरी बढ़ने आदि के कारण श्रमिक वर्ग में एकता एवं चेतना की वृद्धि होती है। वह एकमत व एकजुट होकर पूँजीपतियों से संघर्ष करते हैं व सफलता भी प्राप्त करते हैं। इस प्रकार मार्क्स आर्थिक कारण को ही वर्ग का आधार मानता है। धर्म, कला, ज्ञान, विज्ञान, संस्कृति, दर्शन एवं साहित्य सभी कुछ समाज की अर्थव्यवस्था से ही प्रभावित होते हैं।

कार्ल मार्क्स श्रमिकों को अपने लक्ष्यों की पूर्ति के लिए जागरूक एवं एकजुट होने का आमन्त्रण देते हैं। वह कहते हैं कि, "दुनिया के मजदूर एक हो जाओ, तुम्हें तुम्हारी बेड़ियों के सिवाय कुछ नहीं खोना है।"(Workers of the world unite, You have to loose nothing except your chains.)

3. प्रकार्यवादी सिद्धान्त (Functional Theory) सामाजिक स्तरीकरण के "प्रकार्यवादी सिद्धान्त' का प्रतिपादन किंग्सले डेविस तथा विलबर्ट मूर ने अपने लेख में 'Principles of Stratification' में किया है। इनके विचारानुसार कोई भी समाज वर्ग-विहीन नहीं है, सभी समाजों में संस्तरण पाया जाता है। सभी समाजों में स्तरीकरण; इसलिए पाया जाता है क्योंकि प्रत्येक समाज यह महसूस करता है कि सामाजिक संरचना में व्यक्तियों का कोई न कोई निश्चित स्थान अवश्य ही होना चाहिए। इस प्रकार सामाजिक विषमता प्रत्येक समाज में अचेतन रूप में विकसित होती है।
4. श्रम-विभाजन (Division of Labour) अन्त में, सामाजिक गतिशीलता पर किसी समाज में विद्यमान श्रम-विभाजन की मात्रा का भी प्रभाव होता है। यदि श्रम विभाजन अत्यधिक विकसित अवस्था में है, तथा विशेषीकरण एवं कुशलतम प्रशिक्षण की मात्रा बहुत उत्तम है तो एक वर्ग के सदस्य के लिए दूसरे वर्ग में प्रवेश कठिन होता है। इसी प्रकार ऐसी पूर्ण परिभाषित जातियाँ; जिन्हें कुछेक परम्परागत कार्य सुपुर्द किए गए हैं, इस तथ्य के बावजूद कि अन्य दशाएँ सामाजिक गति के अनुकूल हैं, सामाजिक गतिशीलता को अवरुद्ध कर सकती हैं।

अभ्यास-प्रश्न

1. सामाजिक स्तरीकरण का क्या अर्थ है? इसकी विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. सामाजिक स्तरीकरण का स्वरूप स्पष्ट करें तथा इसके सिद्धांतो की समीक्षा करें।
3. सामाजिक स्तरीकरण के गुण-दोषों का वर्णन कीजिए।
4. सामाजिक गतिशीलता से क्या तात्पर्य है? व्याख्या करें।

ekMîy&4

NOTES

सामाजिक परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन का अर्थ तथा परिभाषाएँ (Meaning and Definitions of Social Changes)

इस अध्याय के अन्तर्गत :

- सामाजिक परिवर्तन का अर्थ, इसकी परिभाषाएँ और विशेषताएँ
- सामाजिक परिवर्तन के प्रमुख प्रतिमान
- सामाजिक परिवर्तन और संस्कृति परिवर्तन में अन्तर सामाजिक परिवर्तन के प्रमुख कारक
- जन संख्यात्मक कारण का अर्थ तथा सामाजिक परिवर्तन से इसका सम्बन्ध
- सम्पत्ति के स्वामित्व की प्रकृति पर जनसंख्या के प्रभाव
- जनसंख्यात्मक कारकों के प्रभाव का मूल्यांकन
- संस्कृतिक विलम्बन के कारण
- प्रौद्योगिक पिछड़ेपन के कारण
- सांस्कृतिक संघर्षों के कारण
- सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त
- सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएँ

अध्याय के उद्देश्य :

- इस अध्याय के अध्ययन के उपरांत आप जान सकेंगे :

NOTES

- सामाजिक परिवर्तन का अर्थ, इसकी परिभाषाएँ और विशेषताएँ
- सामाजिक परिवर्तन के प्रमुख प्रतिमान
- सामाजिक परिवर्तन के प्रमुख कारकों का विश्लेषण कर सकेंगे
- जन संख्यात्मक कारण का अर्थ और सामाजिक परिवर्तन से इसका सम्बन्ध समझ सकेंगे
- सम्पत्ति के स्वामित्व की प्रकृति पर जनसंख्या के प्रभाव
- जनसंख्यात्मक कारकों के प्रभाव का मूल्यांकन
- संस्कृतिक विलम्बन के कारण
- प्रौद्योगिक पिछड़ेपन के कारण एवं सांस्कृतिक पिछड़ेपन के कारण
- सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त और इसकी प्रक्रियाएँ समझ सकेंगे

bdkÃ&11
lkekftd ifjorZu dk vFkZ] ifjHkk"kk] fo'ks"krk] çfreku
lkekftd ifjorZu dh çeq[k dkjd

परिवर्तन प्रकृति का नियम है। अतः सामाजिक परिवर्तन भी प्राकृतिक या स्वाभाविक है। किसी भी ऐसे समाज की कल्पना नहीं की जा सकती जो कि पूर्णतया अपरिवर्तनशील अथवा स्थिर हो। यदि समाज की व्यवस्था में वर्तमान में कोई परिवर्तन या हेर-फेर हो जाता है तो उस बदलाव को सामाजिक परिवर्तन कहेंगे। लेकिन सामाजिक परिवर्तन के अर्थ के बारे में समाजशास्त्रियों के अलग-अलग विचार हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि जब सामाजिक ढाँचे में कोई परिवर्तन हो जाता है तो उसे सामाजिक परिवर्तन कहते विभिन्न विद्वानों ने सामाजिक परिवर्तन को निम्नांकित प्रकार से परिभाषित किया है-

1. मैकाइवर एवं पेज ने इसे परिभाषित करते हुए लिखा है कि ''समाजशास्त्री होने के नाते हमारी विशेष रुचि प्रत्यक्ष रूप में सामाजिक सम्बन्धों में है; केवल इन सामाजिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तन को ही हम सामाजिक परिवर्तन कहते हैं।'

2. गिन्सबर्ग के अनुसार, ''सामाजिक परिवर्तन से मेरा तात्पर्य सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन अर्थात् समाज के आकार, इसके विभिन्न अंगों अथवा इसके संगठन के प्रकारों की बनावट एवं सन्तुलन में होने वाले परिवर्तन से है।''

3. जॉनसन के अनुसार, ''अपने मूल अर्थ में सामाजिक परिवर्तन का अर्थ सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन है।''

4. बोटोमोर के अनुसार, ''सामाजिक संरचना, सामाजिक संस्थाओं अथवा उनके पारस्परिक सम्बन्ध में घटित परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन है।''

5. गिलिन और गिलिन के अनुसार, ''सामाजिक परिवर्तन जीवन की स्वीकृत विधियों में होने वाले परिवर्तन को कहते हैं, चाहे ये परिवर्तन भौगोलिक दशाओं के परिवर्तन से हुए हों या सांस्कृतिक साधनों, जनसंख्या की रचना या विचारधारा के परिवर्तन से या प्रसार से अथवा समूह के अन्दर ही आविष्कार के फलस्वरूप हुए हों।

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सामाजिक परिवर्तन उन परिवर्तनों को कहते हैं जो मानवीय सम्बन्धों, व्यवहारों, संस्थाओं, प्रथाओं, प्रस्थितियों, कार्यविधियों, मूल्यों, सामाजिक संरचना एवं प्रकार्यों आदि में होते हैं।

सामाजिक परिवर्तन की विशेषताएँ (Characteristics of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

1. सामाजिक प्रकृति-सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति सामाजिक है क्योंकि सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध सम्पूर्ण समाज में होने वाले परिवर्तन से है। सामाजिक परिवर्तन समाज के सभी क्षेत्रों में होता है; अतः इसकी प्रकृति सामाजिक मानी जाती है। इस प्रकार से सम्पूर्ण सामाजिक क्षेत्र में हुए परिवर्तन को ही सामाजिक परिवर्तन कहा जाता है और इसीलिए इसकी प्रकृति सामाजिक कही गई है।

2. विभिन्न प्रतिमान सामाजिक परिवर्तन सदैव एक ही प्रकार का नहीं होता है बल्कि सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न प्रतिमान होते हैं। यथा समरेखीय प्रतिमान, चक्रीय प्रतिमान तथा उतार-चढ़ाव का प्रतिमान। समरेखीय प्रतिमान को शिक्षा, विज्ञान एवं कला आदि क्षेत्रों में देखा जा सकता है, जबकि चक्रीय प्रतिमान को फैशन के क्षेत्र में देखा जा सकता है। आर्थिक क्षेत्र में उतार-चढ़ाव

प्रतिमान को देखा जा सकता है।

3. सामाजिक परिवर्तन अमूर्त होते हैं-सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्धों से है। सामाजिक सम्बन्धों को देखा नहीं जा सकता है। इसलिए सामाजिक परिवर्तन को अमूर्त माना जाता है।

4. सार्वभौमिक घटना सामाजिक परिवर्तन एक सर्वव्यापी प्रक्रिया है जो हर समाज, स्थान, समय और परिस्थिति में निरन्तर होती रहती है। इसकी गति व दिशा में अन्तर हो सकता है किन्तु यह अवश्यम्भावी है।

5. सामाजिक परिवर्तन की गति तुलनात्मक है-सामाजिक परिवर्तन सभी समाजों में अवश्य होता है, किन्तु सभी समाजों में इसकी गति समान नहीं है। इसका मुख्य कारण यह है कि सामाजिक परिवर्तन के कारण प्रत्येक समाज में समान रूप से क्रियाशील नहीं होते। सामाजिक परिवर्तन की गति के सम्बन्ध में अनुमान तभी लगाया जा सकता है; जबकि हम एक समाज की दूसरे समाज से अथवा एक ही समाज के एक पक्ष की दूसरे पक्ष से तुलना करें। इस तुलनात्मक आधार पर कह सकते हैं कि भारत की अपेक्षा अमेरिका में अथवा भारतीय ग्रामों की अपेक्षा भारतीय नगरों में परिवर्तन की गति तीव्र है। इसी तरह सामान्य रूप से सरल अथवा आदिवासी समाजों में परिवर्तन बहुत धीमी गति से होता है, जबकि जटिल अथवा औद्योगिक समाजों मे प्रतिक्षण नवीन परिवर्तन होते रहते हैं। अतः सामाजिक परिवर्तन की गति तुलनात्मक है।

6. सामाजिक परिवर्तन एक अनिवार्य एवं स्वाभाविक नियम है-विल्बर्ट मूर ने लिखा है कि सामाजिक परिवर्तन एक अनिवार्य एवं स्वाभविक घटना है। परिस्थितियों के अनुसार समाज की आवश्यकताओं में सदैव परिवर्तन आता रहता है। उन्हीं के अनुसार व्यक्ति के व्यवहार व आचरण भी बदलते हैं। समूह के सदस्यों द्वारा परिस्थितियों के अनुकूलन करने का प्रयत्न समाज में परिवर्तन की प्रक्रिया की निरन्तरता को बनाए रखता है।

7. सामाजिक परिवर्तन एक जटिल तथ्य है-सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया इतनी जटिल है कि इसे स्पष्ट नहीं किया जा सकता। कब किस पर किसका कितना और कैसा प्रभाव पड़ेगा? इसे जान पाना कठिन है। मैकाइवर के अनुसार, "सामाजिक परिवर्तन का अधिक सम्बन्ध गुणात्मक परिवर्तनों से है और गुणात्मक तथ्यों की माप न हो सकने के कारण इनकी जटिलता भी बहुत अधि क बढ़ जाती है।" भौतिक वस्तुओं का परितर्वन अपेक्षाकृत सरल होता है, लेकिन सांस्कृतिक मूल्यों में होने वाला परिवर्तन इतना जटिल होता है कि सरलता से उसका रूप भी समझ में नहीं आता। सामाजिक परिवर्तनों में जितनी वृद्धि होती जाती है, वह उतना ही जटिल और दूरस्थ होता जाता है।

8. सामाजिक परिवर्तन की भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है सामाजिक परिवर्तन बहुत अनिश्चित होते हैं। इनके बारे में निश्चित पूर्वानुमान लगाना कठिन है। हम अधिक से अधिक परिवर्तन की सम्भावना मात्र कर सकते हैं, परिवर्तन की प्रवृत्ति का अनुमान लगा सकते हैं, किन्तु निश्चित भविष्यवाणी नहीं कर सकते। जैसे वर्तमान में संयुक्त परिवार की संख्या में कमी होने से हम भविष्य के लिए यह अनुमान लगा सकते हैं कि संयुक्त परिवार का भविष्य अन्धकार में है, लेकिन यह निश्चित भविष्यवाणी नहीं है।

सामाजिक परिवर्तन के प्रमुख प्रतिमान (Main Patterns of Social Change)

सभी समाजों और सभी समय में सामाजिक परिवर्तन एकसमान नहीं होता है। विभिन्न क्षेत्रों में एक विशिष्ट

ढंग का परिवर्तन देखने को मिलता है। मैकाइवर तथा पेज ने अपनी पुस्तक 'Society' में सामाजिक परिवर्तन के तीन प्रमुख प्रतिमानों का उल्लेख किया है। यथा-

1. प्रथम प्रतिमान (First Pattern) (रेखीय या आविष्कारों से जनित परिवर्तन का रूप) परिवर्तन का एक प्रतिमान यह है कि कई बार परिवर्तन यकायक हमारे सामने प्रकट होते हैं। इस श्रेणी में हम आविष्कारों से उत्पन्न परिवर्तनों को रख सकते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन एक बार उत्पन्न होते हैं, फिर भी वे आगे और भी परिवर्तन उत्पन्न करते रहते हैं, क्योंकि इन आविष्कारों में समय-समय पर कई लोगों द्वारा सुधार किया जाता है। नये आविष्कार गुणात्मक रूप से अनेक परिवर्तनों को जन्म देते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि इस प्रतिमान की एक विशेषता निरन्तर क्रमिक विकास की ओर आगे बढ़ते जाना

   इसकी दूसरी विशेषता यह है कि इसके अन्तर्गत परिवर्तनों की प्रवृत्ति निरन्तर एक ही दिशा में आगे की ओर बढ़ती है, इसी कारण ऐसे परिवर्तनों को रेखीय परिवर्तन भी कहते हैं। उदाहरण के लिए, पहिए के विकास की यात्रा बैलगाड़ी से प्रारम्भ होकर हवाई जहाज तक एक ही दिशा में होती गई है।

2. द्वितीय प्रतिमान (उतार-चढ़ाव वाला परिवर्तन)-सामाजिक परिवर्तन के द्वितीय प्रतिमान के अन्तर्गत परिवर्तन कुछ समय तक तो प्रगति (ऊपर) की ओर होता है और कुछ समय बाद ह्रास (नीचे) की ओर होता है। इसलिए इसे उतार-चढ़ाव वाला परिवर्तन कहते हैं। आर्थिक क्रिया और जनसंख्या के क्षेत्र में ऐसे परिवर्तन दिखाई देते हैं। हम यह देखते हैं कि राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उन्नत और अनवरत होते रहते हैं। व्यापारिक क्रियाएँ उन्नत, विकसित और अनवरत होती रहती हैं।

3. तृतीय प्रतिमान (तरंगीय या चक्रीय परिवर्तन) तीसरे प्रकार के प्रतिमान को तरंगीय परिवर्तन (Wave-like Change) या चक्रीय परिवर्तन कह सकते हैं। तरंगीय परिवर्तन में लहरों की भाँति एक के बाद दूसरा परिवर्तन आता रहता है और यह कहना कठिन होता है कि दूसरी लहर प्रथम लहर के विपरीत है या प्रगति सूचक है या ह्रास सूचक। उदाहरण के लिए, "फैशन' सम्बन्धी परिवर्तन इसी के अन्तर्गत आते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार ऐसे परिवर्तनों का एक चक्र चलता है। जैसे ऋतु सांस्कृतिक आन्दोलन आदि के क्षेत्र में परिवर्तन इस श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं, लेकिन आज अधिकांश विद्वान चक्रीय परिवर्तन की संज्ञा से सहमत नहीं हैं। इसका कारण यह है कि चक्रीय परिवर्तन में घूम-फिर कर पुन: वहीं, उसी रूप में आना होता आना होता है, जबकि हम पुन: उसी स्थिति में कभी नहीं लौटते, उसमें संशोधन अवश्य होता है।

निष्कर्ष-इस प्रकार स्पष्ट है कि सामाजिक परिवर्तन के तीन प्रमुख प्रतिमान हैं-एक क्रमिक विकास के रेखीय परिवर्तन से सम्बन्धित है, दूसरा आर्थिक क्षेत्र के उतार-चढ़ाव वाले परिवर्तन को स्पष्ट करता है तो तीसरा तरंगीय परिवर्तन से सम्बन्धित है।

सामाजिक परिवर्तन एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में अन्तर
(Difference between Social Change and Cultural Change)

सामाजिक परिवर्तन तथा सांस्कृतिक परिवर्तन की धारणाओं के अन्तर को स्पष्ट करने का प्रमुख श्रेय मानवशास्त्री क्रोबर (Kroeber) तथा समाजशास्त्री पार्सन्स (Parsons) को है। इन दोनों विद्वानों ने अपने एक संयुक्त लेख "The concept of culture and social system" में स्पष्ट करते हुए लिखा है कि समाज का तात्पर्य व्यक्तियों तथा समूहों के बीच होने वाली अन्तः क्रिया की व्यवस्था से है; जबकि संस्कृति से हमारा तात्पर्य अनेक मूल्यों, विचारों तथा अर्थपूर्ण प्रतीकों की व्यवस्था से होता है। इस

प्रकार स्पष्ट होता है कि सामजिक परिवर्तन का अर्थ समाज की उस संरचना में परिवर्तन होना है, जिसके द्वार व्यक्ति एक-दूसरे से अन्तःक्रिया करते हैं और सांस्कृतिक परिवर्तन का तात्पर्य उन सीखे हुए और प्रतीकात्मक व्यवहारों में परिवर्तन होना है जो अतीत की अन्तःक्रियाओं को प्रभावित करते हैं। इस आधार पर सांस्कृतिक परिवर्तन का क्षेत्र सामाजिक परिवर्तन की तुलना में बहुत सीमित है। सामाजिक परिवर्तन आधार है; जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन इसकी उपज है।

यद्यपि सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन एक-दूसरे से भिन्न धारणाएँ हैं तथापि दोनों परस्पर पूरक हैं, दोनों एक-दूसरे के कारण और परिणाम हैं। अध्ययन की सरलता की दृष्टि से इनमें निम्नांकित अन्तर बताए जा सकते हैं

1. सम्बन्धों के आधार पर अन्तर सामाजिक परिवर्तन सामाजिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तन है; जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन संस्कृति के भौतिक तथा अभौतिक पक्षों में होने वाला परिवर्तन है; जैसे-कला, साहित्य, धर्म, प्रथा, लोकाचार।
2. पक्षों के आधार पर अन्तर-सामाजिक परिवर्तन के कारण सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन आते हैं; जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन में संस्कृति के विभिन्न पक्षों में परिवर्तन।
3. कारणों के आधार पर अन्तर-सामाजिक परिवर्तन प्राकृतिक कारणों तथा जानबूझकर किए गए प्रयत्नों दोनों के कारण उत्पन्न होते हैं, किन्तु सांस्कृतिक परिवर्तन अधिकतर नियोजित एवं सचेत प्रयत्नों के कारण उत्पन्न होते हैं।
4. गति के आधार पर अन्तर सामाजिक परिवर्तन की गति सांस्कृतिक परिवर्तन की गति से अध कि तीव्र होती है।
5. परिवर्तन की दिशा के आधार पर अन्तर-सामाजिक परिवर्तनों की दिशा पूर्व निश्चित की जा सकती है तथा इन्हें इच्छित दिशा दी जा सकती है, जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन की दिशा निश्चित नहीं की जा सकती।
6. क्षेत्र के आधार पर अन्तर-सांस्कृतिक परिवर्तन की अपेक्षा सामाजिक परिवर्तन का क्षेत्र अधि क व्यापक है। इसका तात्पर्य है कि सांस्कृतिक परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन के अन्दर ही एक विशेष रूप ग्रहण करता है।
7. प्रक्रिया व उसकी एक उपज का अन्तर सामाजिक परिवर्तन एक प्रक्रिया है; जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन इस प्रक्रिया की एक उपज है। इसका तात्पर्य है कि सामाजिक परिवर्तन एक आधार है; जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन साधारणतया इसकी उपज है।
8. परिवर्तन के स्वरूप का अन्तर-सांस्कृतिक परिवर्तन प्रमुख रूप से नए आविष्कारों और सांस्कृतिक प्रसार (diffusion) से उत्पन्न होता है, जबकि सामाजिक परिवर्तन के लिए सामाजिक सम्बन्धों और सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन होना जरूरी
9. अन्य अन्तर सामाजिक परिवर्तन अनिवार्य रूप से सांस्कृतिक परिवर्तन उत्पन्न करता है लेकिन सांस्कृतिक परिवर्तन के फलस्वरूप सामाजिक परिवर्तन का उत्पन्न होना सदैव आवश्यक नहीं होता यद्यपि इसकी संभावना अवश्य की जा सकती है।

अतः स्पष्ट है कि सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति सांस्कृतिक परिवर्तन से भिन्न है।

सामाजिक परिवर्तन के प्रमुख कारक (Main Factors of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन एक जटिल प्रक्रिया है; जिसका कोई एक कारण बताना सम्भव प्रतीत नहीं होता है। सामाजिक परिवर्तन के मुख्य कारकों को हम निम्नलिखित बिन्दुओं में विभाजित कर सकते हैं-

1. जैविकीय या प्राणिशास्त्रीय कारक-अनेक विद्वानों ने जैविकीय दशाओं को सामाजिक परिवर्तन का प्रमुख कारण माना है। कभी-कभी एक समाज में रहने वाली प्रजातियों की शारीरिक विशेषताओं में एकाएक होने वाले पविर्तन, समाज की संरचना को परिवर्तित कर देते हैं। इस प्रकार के होने वाले परिवर्तन निम्नलिखित हैं-

   (i) जन्म और मृत्यु दर में परिवर्तन-जन्म और मृत्यु दर में होने वाला परिवर्तन समाज की आवश्यकताओं में परिवर्तन की स्थिति उत्पन्न करता है। जिस समाज में जन्म और मृत्यु दर अधि क है; उस समाज में दुर्बल सन्तानों का जन्म होगा जिसके कारण समाज में कार्यकुशलता और अनुभवी व्यक्तियों की कमी की समस्या उत्पन्न हो जाएगी। इसी प्रकार से यदि जन्म दर और मृत्यु दर कम या अधिक हुई तो उसका जनसंख्या पर सीधा असर पड़ेगा; जिससे समाज पर इसका सीधा प्रभाव पड़ेगा।

   (ii) प्रजातीय मिश्रण-जिन समाजों में प्रजातीय मिश्रण हुए हैं; उनका रूप पहले से बिल्कुल भिन्न हो गया है। प्रजातीय मिश्रण संस्कृति को ही परिवर्तित नहीं करता बल्कि इसके कारण समाज में प्रचलित मूल्यों और नैतिकता का स्तर भी बदल जाता है।

   (iii) स्त्री और पुरुषों का अनुपात स्त्री और पुरुषों का अनुपात भी सामाजिक जीवन को अनेक रूपों में प्रभावित करता है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या अधिक होने से बहुपत्नी विवाह का प्रचलन बढ़ेगा; जिससे परिवार के रूप में परिवर्तन होता है तथा सामाजिक सम्बन्धों में भी परिवर्तन आता है। पुरुषों की संख्या बढ़ने से बहुपति विवाह का प्रारम्भ होगा। इससे पुरुषों की स्थिति में ह्रास होगा और सामाजिक संरचना में अपने-आप परिवर्तन स्पष्ट होने लगेंगे। इस प्रकार समाज में होने वाले अनेक परिवर्तनों की व्याख्या जैविकीय दशाओं के आधार पर की गई है।

2. जनसंख्यात्मक कारक (Demographic factors)-कुछ विद्वानों ने सामाजिक परिवर्तन का मुख्य कारण किसी समाज में जनसंख्या सम्बन्धी विशेषताओं को माना है। वास्तव में विभिन्न समूहों, समितियों और सम्पूर्ण समाज की रचना को उस समाज की जनसंख्या का आधार बहुत अधिक प्रभावित करता है। यथा (i) जनसंख्या वृद्धि अथवा ह्रास-बहुत छोटे आकार के समाज को ऐतिहासिक प्रसिद्धि प्राप्त करने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है; जबकि जनसंख्या में वृद्धि होने पर न केवल उनका समीपवर्ती समाजों पर प्रभाव होता है बल्कि उन्हें इतिहास में भी प्रसिद्धि पाने का अवसर मिलता है। बढ़ती हुई जनसंख्या का राष्ट्र की व्यवस्था पर भी प्रभाव पड़ता है। इससे अर्थव्यवस्था, उत्पादन और उपभोग में सन्तुलन बिगड़ जाता है। जनसंख्या वृद्धि के कारण युद्धों को भी स्थान मिला है। इस प्रकार जनसंख्या वृद्धि से समाज में अनेक प्रकार के परिर्वतन हुए हैं। (ii) प्रजनन क्षमता-प्रजनन क्षमता में परिवर्तन होनें से समूहों के रूप में परिवर्तन होते है और परिणामस्वरूप समाज की संरचना में परिवर्तन आता है। प्रजनन क्षमता जनसंख्या वृद्धि या जनसंख्या ह्रास लाती है। साथ ही साथ सामाजिक मूल्यों पर इसका सीधा प्रभाव पड़ता है। जिस समाज में सन्तान उत्पत्ति के योग्य आयु समूहों के लोगों की संख्या अधिक होगी या जहाँ सन्तान उत्पत्ति

क्षमता कम आयु से प्रारम्भ होकर अधिक आयु तक चलती है, ऐसे समाज में जनसंख्या वृद्धि होगी। इस प्रकार से प्रजनन क्षमता सामाजिक परिवर्तन लाती है। (iii) अन्य-आयु समूह, जनसंख्या का प्रादेशिक वितरण, प्रजातीय मिश्रण, नगर ग्रामों में जनसंख्या का अनुपात, उत्प्रवास और अप्रवास तथा विभिन्न व्यवसायों में जनसंख्या का वितरण समाज की संस्थाओं के रूप को प्रभावित करता है और इनमें होने वाले कोई भी परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं।

3. सामाजिक परिवर्तन के प्रौद्योगिकीय (Technological) कारक-वर्तमान में प्रौद्योगिकी सामाजिक परिवर्तन का एक महत्त्वपूर्ण कारक है। प्रौद्योगिकीय कारक ने जीवन के विभित्र क्षेत्रों में परिवर्तन लाने में योगदान दिया है; यथा

(i) यंत्रीकरण-वर्तमान में प्रेस, पहिया, भाप का इंजन, जहाज, मोटरकार, वायुयान, ट्रैक्टर, टेलीफोन, रेडियो, टेलीविजन, बिजली, टाइपराइटर, कम्प्यूटर, गन पाउडर, अणुबम आदि के आविष्कारों ने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए हैं।

(ii) यंत्रीकरण तथा सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन-यंत्रीकरण ने सामाजिक मूल्यों को बदलने मे योगदान दिया है। वर्तमान में व्यक्तिगत सम्पत्ति एवं शक्ति का महत्व बढ़ा है एवं सामूहिकता के मूल्य में कमी आयी है।

(iii) संचार के उन्नत साधन संचार के नवीन उन्नत साधनों तार, टेलीफोन, रेडियो, टेलीविजन आदि के विकास ने अनेक जटिल सामाजिक परिवर्तनों को जन्म दिया है। संचार के इन साध नों के फलस्वरूप भौतिक दूरी कम हुई है तथा ग्रामीण एवं नगरीय जीवन का अंतर कम हो रहा है। संचार के साधनों के माध्यम से विभिन्न सांस्कृतिक समूहों के लोगों को एक-दूसरे को समझने का मौका मिला है; जिससे सांस्कृतिक दूरी कम हुई है। इसके अतिरिक्त इन साधनों से बड़े आकार में राजनीतिक दल बनने लगे और प्रजातांत्रिक विचारों का प्रसार होने लगा है।

(iv) कृषि के क्षेत्र में नवीन प्रविधियाँ-कृषि-क्षेत्र में नवीन प्रविधियों के प्रयोग ने जीवन में अनेक परिवर्तन लाने में योगदान दिया है। पशुओं की नस्ल, उर्वरकों के प्रयोग, बीजों की किस्म तथा श्रम बचाने की मशीनों सम्बन्धी मामलों में सुधार हो जाने से कृषि उत्पादन में मात्रा एवं गुण दोनों ही दृष्टि से वृद्धि हुई है। सिंचाई के उन्नत साधनों ने भी कृषि उत्पादन बढ़ाने में काफी योगदान दिया है। मशीनों के प्रयोग से सामूहिकता की बजाय व्यक्तिवादिता का महत्त्व बढ़ा है।

साथ ही मशीनों के प्रयोग से कृषि कार्यों में कम व्यक्तियों की आवश्यकता ने संयुक्त के बजाय नाभिक परिवारों के महत्त्व को बढ़ाया है। इस प्रकार कृषि क्षेत्र में प्रयोग में लायी गई नवीन प्रविधियों ने सामाजिक सम्बन्धों, लोगों के दृष्टिकोण और मनोवृत्तियों को काफी बदल दिया है। अब ग्रामीण क्षेत्रों में आत्मीयता के बजाय औपचारिकता और कृत्रिमता बढ़ती जा रही है। इस प्रकार नवीन प्रविधियों ने ग्रामीण जीवन को अनेक रूपों में प्रभावित किया है।

(v) उत्पादन प्रणाली-उत्पादन प्रणाली भी एक प्रमुख प्रौद्योगिकी कारक है; जिसने समय-समय पर सामाजिक सम्बन्धों और सामाजिक संरचना को काफी बदला है। वर्तमान में नगरीय क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर फैक्ट्रियों में मशीनों की सहायता से उत्पादन होने लगा है। श्रम विभाजन और विशेषीकरण अधिक हुआ है। बैंकों और बड़े-बड़े व्यापारिक संस्थानों की स्थापना हुई है। प्रतिस्पर्द्धा और प्रचार का महत्त्व बढ़ा है। इस प्रकार उत्पादन की नवीन प्रणाली ने सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन को बहुत कुछ बदल दिया है। इस प्रणाली ने

विभिन्न सामाजिक संस्थाओं, विवाह, परिवार एवं जाति आदि को अनेक रूपों में प्रभावित किया है और सामाजिक परिवर्तन की गति को तेज किया है।

(vi) अणु शक्ति पर नियंत्रण-आधुनिक विज्ञान की अन्य खोजों के समान अणु-शक्ति का प्रयोग भी रचनात्मक एवं विनाशक दोनों ही प्रकार के कार्यों के लिए किया जाता है। जैसे-जैसे जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अणुशक्ति का उपयोग बढ़ता जाएगा उसके साथ ही साथ सामाजिक परिवर्तन की गति भी तीव्र होती जाएगी।

4. सांस्कृतिक कारक-सांस्कृतिक कारकों में हम धर्म, विचार, नैतिकता, विश्वास, प्रथा, परम्परा, लोकाचार तथा विभिन्न संस्थाओं को सम्मिलित करते हैं; साथ ही नवीन मूल्य एवं विश्वास, सामाजिक संगठन तथा व्यवस्था को सम्मिलित करते हैं। नवीन मूल्य एवं विश्वास सामाजिक संगठन तथा व्यवस्था को प्रभावित करते हैं, जिसके कारण सामाजिक परिवर्तन होता है। संस्कृति समाज की वाहक है, अनेक दिशाएँ निर्धारित करती है। संस्कृति के भौतिक एवं अभौतिक तत्त्वों में अन्तर होने से सामाजिक परिवर्तन होता है। ऑगबर्न (Ogburn) ने सांस्कृतिक विलम्बना (Cultural lag) के आधार पर सामाजिक परिवर्तन को स्पष्ट किया है। उनका मत है कि "वह तनाव जो संस्कृति के दो परस्पर सम्बन्धी भागों, जो कि असमान गति की दर से परिवर्तित होते हैं, में रहता है। उस भाग में विलम्बना समझी जा सकती है जो कि अत्यधिक मन्द दर से परिवर्तित हो रहा है, क्योंकि एक वस्तु दूसरी के पीछे रह जाती है।" हमारे देश में सामान्य जीवन में मशीनों, ट्रैक्टरों, मोटर, रेलगाड़ियों तथा अन्य भौतिक वस्तुओं के प्रयोग होने लगे हैं, जो कि भौतिक संस्कृति के तत्त्व हैं; किन्तु हमारी धारणाएँ, रीति-रिवाज, धर्म, आचार-विचार, एवं अन्य सम्बन्धित अभौतिक संस्कृति के तत्त्व परिवर्तित नहीं हुए हैं। इस प्रकार भौतिक संस्कृति और अभौतिक संस्कृति के परिवर्तन की दरें भिन्न हैं। इसी को सांस्कृतिक विलम्बना कहते हैं।

सांस्कृतिक प्रसार के कारण भी सामाजिक परिवर्तन होते हैं। एक समूह अथवा समाज के सांस्कृतिक तत्त्व दूसरे समूह में फैलते हैं, तो उनके अनुरूप उस समूह के लोग अपने सामाजिक जीवन में परिवर्तन लाते हैं, मूर का मत है कि सांस्कृतिक कारक समाज में तीन प्रकार से परिवर्तन लाते हैं-1. सांस्कृतिक संघर्ष के द्वारा, 2. सांस्कृतिक प्रसार के द्वारा और 3. पर-संस्कृति ग्रहण के द्वारा;

यथा-

a. सांस्कृतिक संघर्ष-इसमें दो संस्कृतियों में संघर्ष पैदा होता है तथा शक्तिशाली संस्कृति विजयी रहती है। इसलिए निर्बल संस्कृति के लोग शक्तिशाली संस्कृति को अपना लेते हैं, जिसके कारण सामाजिक संरचना में भी परिवर्तन होते हैं। इससे सामाजिक संरचना भी प्रभावित होती है।

b. सांस्कृतिक प्रसार में एक संस्कृति के तत्त्व दूसरे समूहों में फैलते हैं और उस समूह की संरचना को प्रभावित करते हैं।

c. पर-संस्कृति ग्रहण वह प्रक्रिया है जिसे दो संस्कृतियों का सम्पर्क होने पर एक संस्कृति दूसरे पर छा जाती है तथा उस समूह के लोगों की सम्पूर्ण जीवन विधि को ही बदल देती है। इससे पर-संस्कृति ग्रहण करने वाले समूह की सामाजिक-व्यवस्था में परिवर्तन आ जाता है।

डॉसन एवं गेटिस (Dawson and Gettys) ने स्पष्ट लिखा है कि, "संस्कृति सामाजिक परिवर्तन की दिशा निश्चित करती है एवं गति प्रदान करती है तथा उन सीमाओं को निर्धारित करती है जिनके बाहर सामाजिक

परिवर्तन नहीं किए जा सकते।"

5. मनोवैज्ञानिक कारक समस्त मानव सम्बन्ध मानव मस्तिष्क की उपज हैं। अतः सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन के कारण होते हैं। मानव में जिज्ञासा की प्रवृत्ति पाई जाती है। इस प्रवृत्ति ने ही मानव को आविष्कार करने एवं अज्ञात को खोजने की प्रेरणा दी। मानव ने अनेक ऐसे आविष्कार किए हैं जिन्होंने उसके जीवन को ही बदल दिया। मानव मस्तिष्क नवीनता चाहता है, एक ही स्थिति से वह ऊब जाता है। इस ऊब से मुक्त होने के लिए मानव ने फैशन को जन्म दिया है। अतः मनोवैज्ञानिक कारण भी सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी रहता है।

6. वैधानिक कारक आधुनिक युग में वैधानिक कारक सामाजिक परिवर्तन लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, क्योंकि" सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में कानूनों की प्रमुख भूमिका रही है। कानूनों का ऐतिहासिक विकास, समाज के विकास का सूचक है। भारतीय समाज प्रायः जाति, परम्पराओं तथा सम्बन्ध प्रथाओं द्वारा नियन्त्रित था, परन्तु वर्तमान में यह औपचारिक नियमों के द्वारा नियन्त्रित होता है। इससे व्यक्ति के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन हुआ है तथा जनमत के महत्त्व में भी वृद्धि हुई है। भारत में आधुनिक समय में कानूनी क्रान्ति आ गई है तथा व्यापारिक परिवर्तन होकर अब सम्बन्धों का आधार समझौता हो गया है। कानून नई मान्यताओं व सामाजिक मूल्यों को स्थापित करते हैं। इसके विपरीत कार्य करने वालों के लिए कानून दण्ड की व्यवस्था भी करता है। परन्तु प्रत्येक निर्मित कानून एक सामाजिक शक्ति का रूप नहीं ले पाता है। इसके लिए सभी व्यक्तियों द्वारा उसे स्वीकार कर लिया जाना आवश्यक है। कानून संस्थागत न हो पाए तथा उसका उपयोग नहीं किया जाए तो धीरे-धीरे लोगों की कानून के प्रति सम्मान की भावना समाप्त हो जाती है।'

7. प्राकृतिक कारक-प्राकृतिक कारकों को हम भौतिक कारक भी कहते हैं। प्राकृतिक कारकों से अभिप्राय उन कारकों से है; जिनकी उत्पत्ति का मूल स्रोत प्रकृति स्वयं होती है। प्राकृतिक कारकों के अन्तर्गत पृथ्वी का धरातल, धूप, तूफान, भूकम्प, बाढ़, हवाएँ एवं अन्य भौगोलिक दशाएँ आती हैं। इन प्राकृतिक परिस्थितियों एवं शक्तियों से समाज में परिवर्तन होता है। कुछ भौगोलिक परिवर्तन बहुत धीमे होते हैं और कुछ बहुत तीव्र गति से। मनुष्य जमीन जोतता है, पहाड़ों में सुरंग बनाता है, बड़े-बड़े जंगलों को हरे-भरे मैदानों में परिणत कर देता है। इसके कारण समाज में परिवर्तन होते हैं। दुर्खीम (Drukheim) के शब्दों में, "सामाजिक एकता बढ़ती है व संघर्ष कम होता है; जिससे संस्थाएँ सशक्त होती हैं।"

वास्तव में देखा जाए तो प्राकृतिक कारकों का सामाजिक परिवर्तन में बड़ा योग होता है। अकाल से जनसंख्या में अन्तर हो जाता है। भूकम्प से मानवीय आवास की स्थिति बदल जाती है। बाढ़ और भूकम्प के कारण प्राकृतिक साधनों का अभाव हो जाता है। अतः हम देखते हैं कि उपर्युक्त प्राकृतिक कारकों से सामाजिक कारक परिवर्तित होते हैं।

8. धार्मिक कारक विद्वान समाजशास्त्रियों का कहना है कि जब किसी समाज के लोगों के धर्म के सिद्धान्तों में अन्तर आने लगते हैं अथवा परिवर्तन आने लगते हैं; तब भी लोगों की विचारधाराओं, जीवन की विधियों में परिवर्तन होना शुरू हो जाता है। उदाहरणार्थ, एक समय था; जबकि भारत में लोग आध्यात्मिक शक्तियों का अधिक से अधिक मात्रा में विश्वास किया करते थे, किन्तु आज साम्यवाद के प्रभावों के कारण, पाश्चात्य संस्कृतियों के प्रभावों के कारण ही धार्मिक भावनाओं में गिरावट आ गई है। आज धर्म समाज के लिए अफीम माना जाने लगा है। यही नहीं, विवाह संस्कार में धार्मिक कृत्यों को स्वीकार नहीं किया जाता, विवाह संस्कार एक सामाजिक समझौते मात्र रह गए

हैं। पहले परिवार में संयुक्त व्यवस्था को ही स्वीकार किया जाता था, मगर धार्मिक विचारध राओं में परिवर्तन आने के कारण सभी लोग केन्द्रीय अथवा एकाकी परिवार में विश्वास करने लगे हैं। अतः स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि सामाजिक परिवर्तन में धार्मिक संस्थाओं का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

9. राजनीतिक एवं सैनिक कारक बीरस्टीड ने लिखा है कि "कुछ लेखक सामाजिक परिवर्तन को युद्धों, छुटपुट लड़ाइयों, वंशों और युद्धों, विजय तथा पराजयों की कहानी बताते हैं। इस आध र पर सामाजिक परिवर्तन भी सैनिक समाजीय सिद्धान्त पर आधारित है।" इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन में सैनिक कारक के महत्त्व को स्वीकार करना होगा, सैनिक कारक को राजनीतिक कारक से पृथक् करना सरल नहीं है क्योंकि इतिहास के अनेक प्रकरणों में क्रान्ति और युद्ध की अनेक राजनीतिक घटनाओं का उल्लेख है। इतिहास एक भूतकालीन राजनीति है और राजनीति इतिहास को प्रस्तुत करती है।

9. वैचारिक या सैद्धान्तिक कारक वैचारिक एवं सैद्धान्तिक कारक की भी सामाजिक परिवर्तन में महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। किसी समस्या के हल के लिए समाजशास्त्री नवीन विचार प्रस्तुत करते हैं। मार्क्स ने यह विचार दिया था कि सांस्कृतिक पिरामिड के मूल में आर्थिक कारक ही हैं तथा सामाजिक व राजनीतिक संगठन, कला, साहित्य, विज्ञान, दर्शन, धर्म, सभी ऊपरी संरचनाएँ इस पिरामिड की मूल संरचना पर निर्भर हैं। मैक्स वेबर ने भी आर्थिक कारकों के महत्त्व को स्वीकार किया किन्तु उन्हें अधिक महत्त्व नहीं दिया। वे सामाजिक परिवर्तन के लिए धर्म को अधि क महत्त्व देते हैं। अतः वैचारिक कारण भी परिवर्तन के लिए उत्तरदायी रहे हैं।

10. वैचारिक या सैद्धान्तिक कारक-वैचारिक एवं सैद्धान्तिक कारक की भी सामाजिक परिवर्तन में महत्त्वपूर्ण भूमिका है। किसी समस्या के हल के लिए समाजशास्त्री नवीन विचार प्रस्तुत करते हैं। मार्क्स ने यह विचार दिया था कि सांस्कृतिक पिरामिड के मूल में आर्थिक कारक ही हैं तथा सामाजिक व राजनीतिक संगठन, कला, साहित्य, विज्ञान, दर्शन, धर्म सभी ऊपरी संरचनाएँ इस पिरामिड की मूल संरचना पर निर्भर हैं। मैक्स वेबर ने भी आर्थिक कारकों के महत्त्व को स्वीकार किया किन्तु उन्हें अधिक महत्त्व नहीं दिया। वे सामाजिक परिवर्तन के लिए धर्म को अधिक महत्त्व देते हैं। अतः वैचारिक कारण भी परिवर्तन के लिए उत्तरदायी रहे हैं।

11. संयुक्त राष्ट्र संघ तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं का योग-सामाजिक परिवर्तन में संयुक्त राष्ट्र संघ की संस्थाएँ तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इनके अतिरिक्त फोर्ड फाउण्डेशन आदि अनेक विदेशी संस्थाएँ भी शिक्षा, कृषि, चिकित्सा, परिवार नियोजन आदि क्षेत्रों में आर्थिक सहायता और विशेषज्ञ सेवाएँ प्रदान करके इन देशों में सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन लाने का प्रयास करती रही हैं।

12. महान लोगों की भूमिका-सामाजिक परिवर्तन में महान लोगों की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण होती है। समाज को मोड़ने, घटनाओं को नई दिशा देने आदि की दृष्टि से महान् व्यक्तियों के महत्त्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। एक समाज में मनुष्य कहीं न कहीं; किसी प्रकार से परम्पराओं को थोड़ा बहुत अवश्य तोड़ता है। वह एक संक्षिप्त रास्ता निकालता है तथा एक नये विचार को जन्म देता है, अर्थात् एक नई खोज करता है। उपर्युक्त कार्य से वह व्यक्ति सांस्कृतिक जलस्रोत को चकित कर देता है। कुछ समय पश्चात् संस्कृति के समस्त अंग और समाज के सभी क्षेत्र इससे प्रभावित हो सकते हैं।

13. आर्थिक कारक आर्थिक कारक भी सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं। कार्ल मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन के लिए आर्थिक कारकों को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना है। सम्पत्ति का स्वरूप, व्यवसाय की प्रकृति, सम्पत्ति का वितरण, लोगों का जीवन स्तर, व्यापार चक्र, वर्ग संघर्ष, उत्पादन प्रणाली का स्वरूप आदि सभी सामाजिक संरचना को प्रभावित करते हैं। मार्क्स ने इतिहास की भौतिक व्याख्या प्रस्तुत की। उसका मत है कि आर्थिक ढाँचा ही समाज का मुख्य ढाँचा है, जिस पर समाज की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था आधारित है। अतः जब समाज के आर्थिक ढांचे में परिवर्तन आता है तो सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था भी परिवर्तन के दौर में होती है। उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन होने के साथ-साथ समाज में परिवर्तन होते रहते हैं। कार्ल मार्क्स के अनुसार वर्ग संघर्ष के कारण भी सामाजिक परिवर्तन होते हैं। निष्कर्षतः वास्तव में सामाजिक परिवर्तन एक जटिल तथ्य है। इसकी व्याख्या किसी एक ही कारक के आधार पर नहीं की जा सकती है। अनेक कारकों के योग से ही समाज में परिवर्तन घटित होते हैं।

जनसंख्यात्मक कारक का अर्थ (Meaning of Demographic Factor)

सोरोकिन (Sorokin) ने जनसंख्यात्मक कारक को परिभाषित करते हुए कहा है कि "जनसंख्यात्मक कारक का अर्थ किसी समाज की जनसंख्या के आकार और घनत्व में वृद्धि अथवा ह्रास होना है।" 1

इस प्रकार जनसंख्यात्मक कारक में हम मुख्य रूप से जनसंख्या के परिमाणात्मक (Quantitative) पक्ष को ही सम्मिलित करते हैं, गुणात्मक (Qualitative) पक्ष को बहुत कम; क्योंकि हमारा उद्देश्य केवल यही स्पष्ट करना होता है कि जनसंख्या के आकार और विशेषताओं में होने वाले परिवर्तन समाज को किस प्रकार प्रभावित करते हैं। हम इस बात की विवेचना नहीं करते कि जनसंख्या में कौन-कौन से गुण होने चाहिए।

जनसंख्या तथा सामाजिक परिवर्तन (Population and Social Change)

किसी समाज की जनसंख्या उस समाज की जैविकीय विशेषताओं का स्पष्ट प्रतिनिधित्व करती है। यदि जनसंख्यात्मक विशेषताओं में परितर्वन हो जाए तो सामाजिक परिवर्तन की भी पूरी संभावना हो जाती है। जनसंख्या सम्बन्धी विभिन्न विशेषताओं द्वारा सामाजिक परिवर्तन पर पड़ने वाले प्रभावों का विवेचन निम्नलिखित बिन्दुओ के अन्तर्गत किया गया है-

1. जनसंख्या के आकार मे परिवर्तन का प्रभाव-किसी समाज में जनसंख्या का आकार सामाजिक संरचना को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है। जनसंख्या के आकार में होने वाले परिवर्तन अनेक प्रक्रियाओं के माध्यम से निम्नलिखित क्षेत्रों में परिवर्तन लाते हैं

   (i) जन्म-दर और मृत्यु दर-जन्म-दर में वृद्धि जनसंख्या के आकार में वृद्धि करती है और मृत्यु दर में वृद्धि होने से जनसंख्या के आकार में कमी हो जाती है। लेकिन जन्म-दर में वृद्धि होने से जनसंख्या में जिस अनुपात में वृद्धि होती है; उस अनुपात में जीविका के साधनों में वृद्धि नहीं होती है। इससे गरीबी व बेकारी की स्थिति उत्पन्न होती है, कार्यक्षमता में कमी आती है, जीवन स्तर गिरता है, जीविका के अधिकाधिक साधन प्राप्त करने के लिए संघर्ष की मात्रा में वृद्धि होती है, अनैतिकता और भ्रष्टाचार बढ़ता है और सामाजिक संगठन को बनाए रखने में कठिनाई आने लगती है। इसी प्रकार जन्म-दर में होने वाली कमी भी न्यून उत्पादन, प्राकृतिक शक्तियों के अपर्याप्त उपयोग तथा स्त्री-पुरुषों के अनुपात में भिन्नता जैसी दशाएँ उत्पन्न करके

सामाजिक परिवर्तन लाने में सहायक होती है।

(ii) अप्रवास और उत्प्रवास-अप्रवास (Immigration) का अर्थ अन्य स्थानों से व्यक्तियों का हमारे समाज में प्रवेश करना और उत्प्रवास (emigration) का अर्थ हमारे समाज के व्यक्तियों का दूसरे समाजों में चले जाना है।

बीरस्टीड और सोरोकिन ने कहा है कि अप्रवास के कारण एक समाज में ऐसे व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि हो जाती है; जिनकी संस्कृति, प्रजातीय विशेषताएँ, सामाजिक मूल्य तथा जीवन-स्तर, वहाँ के मूल निवासियों की विशेषताओं से मिश्रित होने लगता है। परिणामस्वरूप दोनों समूहों की मिली-जुली संस्कृति के कारण व्यवहार के नए ढंग विकसित होने लगते हैं। जैविकीय गुणों में मिश्रण हो जाने से व्यक्तियों की मानसिक और शारीरिक विशेषताएँ भी बदल जाती हैं। इनका प्रभाव व्यक्ति की चिन्तन प्रणाली, नैतिकता और व्यवहार-प्रतिमानों पर पड़ता है और इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। हमारे समाज में पाकिस्तान, श्रीलंका, तिब्बत, बर्मा (म्यांमार) और पूर्वी एशिया के अनेक स्थानों से आने वाले व्यक्तियों के कारण परिवर्तन की जो स्थिति उत्पन्न हुई है; वह अप्रवास के प्रभाव को स्पष्ट करती है।

उत्प्रवास से किसी समाज में जनसंख्या में कमी होने लगती है। इसके परिणामस्वरूप उत्पादन के साधनों से पुनः अभियोजन करने की समस्या उत्पन्न होती है। कुछ विशेष सेवाओं से सम्बन्धित व्यक्तियों की कमी हो जाने से हमें अपनी आवश्यकताओं में परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है। सामान्य रूप से उत्प्रवास पुरुषों द्वारा अधिक संख्या में होने के कारण कुछ समय के लिए स्त्रियों के अनुपात में वृद्धि होती है। अनेक परिवारों में पुरुष की अनुपस्थिति से पारिवारिक विघटन की समस्या उत्पन्न हो जाती है और इस प्रकार समाज में परिवर्तन होने लगता है।

2. जनसंख्या सम्बन्धी संरचना का प्रभाव-जनसंख्या की संरचना का निर्माण करने वाले कारकों में आयु, लिंग, वैवाहिक, स्तर तथा स्त्रियों की स्थिति का विशेष महत्त्व है। इन कारकों में जब कभी भी परिवर्तन होता है; तब समाज की संरचना में भी परिवर्तन होने लगता है। यथा-

(i) आयु-समूह-आयु समूह-जनसंख्या में यदि अधिक आयु समूह के व्यक्तियों की संख्या अधिक हो तो अनुशासन के कठोर नियमों द्वारा परम्परागत विचारों की रक्षा की जाती है, परिणामस्वरूप सामाजिक परिवर्तन की गति बहुत धीमी रहती है। यदि जनसंख्या में वृद्धों की अपेक्षा युवकों की संख्या में वृद्धि हो जाती है; तो नवीनता के प्रति आकर्षण बढ़ जाएगा, धर्म में तर्क का समावेश हो जाएगा, परम्पराओं को कम महत्त्व मिलेगा। फलस्वरूप सामाजिक परिवर्तन की गति तीव्र हो जाएगी।

(ii) स्त्री-पुरुषों का अनुपात-अनेक समाजों में स्त्री व पुरुषों के अनुपात में परिवर्तन होने से सामाजिक परिवर्तन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। भारत मे आज भी 1000 पुरुषों के पीछे स्त्रियों की संख्या 927 के आस-पास है। परिणामस्वरूप जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों को प्रधानता मिली हुई है जबकि पश्चिमी देशों, विशेषकर अमरीका और फ्रांस में स्त्रियों का अनुपात पुरुषों से अधिक होने के कारण उनका सामाजिक पद, आर्थिक सेवाएँ तथा राजनीतिक प्रतिनिधित्व किसी भी अर्थ में पुरुषों से कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। अतः स्त्री व पुरुषों के अनुपात में अन्तर होने से भी सामाजिक परिवर्तन को स्थान मिलता है।

(iii) वैवाहिक प्रथाएँ-विवाह के अन्तर्गत होने वाले परवर्तन भी सामाजिक परिवर्तन लाते हैं। यदि बहुपत्नी विवाह अथवा बाल-विवाह के स्थान पर एक-विवाह और विलम्ब विवाह (late

marriage) का प्रचलन हो जाए तो स्त्रियों की स्थिति में आश्चर्यजनक रूप से परिवर्तन होता है; वे सामाजिक क्षेत्र में अधिक जागरूक हो जाती हैं; अपने अधिकारों को समझने लगती हैं और स्वतंत्रता व समानता का दावा करती हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रभाव बच्चों के पारिवारिक वातावरण पर पड़ता है। वे पहले से अधिक निर्भीक, शिक्षित और व्यवहार में नम्र हो जाते हैं। इस प्रकार समाज की इन छोटी-छोटी इकाइयों में परिवर्तन होने से समाज स्वयं भी परिवर्तित हो जाता है।

3. जनसंख्या तथा आर्थिक परिवर्तन-जनसंख्या की वृद्धि से उत्पादन की नई-नई प्रविधियों का विकास होता है और उत्पादन पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा में होने लगता है। इसके परिणामस्वरूप समाज में नये-नये आविष्कार होते हैं और इस तरह ज्ञान का अधिक प्रसार होता है। इस प्रकार उत्पादन की प्रगति का सम्पूर्ण इतिहास वास्तव में जनसंख्या की वृद्धि के इतिहास से ही सम्बन्धित है।

   सम्पत्ति के स्वामित्व की प्रकृति पर जनसंख्या के प्रभाव को स्पष्ट करते हुए विद्वानों ने कहा है कि जिन स्थानों पर जनसंख्या का घनत्व कम होता है, वहाँ साधारणतया सम्पत्ति पर सामूहिक स्वामित्त्व होता है और घनी जनसंख्या वाले स्थानों पर सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्त्व पाया जाता है, क्योंकि घनी आबादी वाले प्रदेशों में गहरी खेती और अधिक उत्पादन करना आवश्यक होता है जो सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्त्व द्वारा ही संभव है।

   आर्थिक समृद्धि और जनसंख्या के सम्बन्ध में माल्थस और उसके अनुयायियों का मत है कि जनसंख्या के घनत्व में वृद्धि होने से अति जनसंख्या की समस्या उत्पन्न होती है, जो आर्थिक समृद्धि में बाधा पहुँचाती है।

4. सामाजिक संगठन पर जनसंख्या का प्रभाव-सामाजिक संगठन में हम मुख्यतः तीन पक्षों-1. सामाजिक विभेदीकरण, 2. सामाजिक स्तरीकरण, और 3. पारिवारिक संगठन को सम्मिलित करते हैं।

   कुछ विद्वानों का मत है कि जैसे-जैसे जनसंख्या के आकार और घनत्व में वृद्धि होती है; सामाजिक विभेदीकरण भी बढ़ता जाता है। नगरों में सामाजिक विभेदीकरण और सामाजिक स्तरीकरण सर्वाधिक इसलिए होता है, क्योंकि वहाँ जनसंख्या का घनत्व अधिक होने के साथ-साथ जनसंख्या में विभिन्नता भी बहुत अधिक पाई जाती है। अधिक जनसंख्या के कारण कुछ व्यक्तियों को तो अपनी योग्यता और कुशलता में वृद्धि करने का अवसर मिल जाता है; जबकि बहुत से व्यक्ति अपनी परम्परागत स्थिति को बनाए रखने में भी असफल हो जाते हैं। इसके फलस्वरूप समाज में निरन्तर नये-नये स्तरों का निर्माण होता रहता है।

   मजरेला (Mazzarela) ने पारिवारिक संगठन और जनसंख्या के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए कहा है कि विवाह और परिवार के विभिन्न स्वरूप जनसंख्यात्मक कारकों द्वारा ही निर्धारित होते हैं; उदाहरण के लिए, विभिन्न जनजातियों की भौगोलिक, प्रजातीय, धार्मिक और आर्थिक परिस्थितियाँ एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न होने के बाद भी अधिकतर जनजातियों में बहुपति विवाह (Polyandry) और बहुपत्नी विवाह (Polygyny) की रीति साथ-साथ पायी जाती है। इसका प्रमुख कारण उनका जनसंख्यात्मक पर्यावरण है। ये समूह आकर में छोटे होते हैं और इनके पास भूमि का एक बड़ा भाग होता है। इस प्रकार भूमि का सबसे अधिक उपयोग करने के लिए परिवार में अधि क संख्या में वयस्क सदस्यों की आवश्यकता होती है, जो बहुपति विवाह अथवा बहुपत्नी विवाह द्वारा ही संभव

है। इसके विपरीत नगरों में जनसंख्या का घनत्व अधिक होने के कारण जीविका उपार्जित करना एक कठिन कार्य होता है; इसलिए वहाँ एक विवाह के द्वारा परिवार को संगठित किया जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि परिवार का संगठन बहुत कुछ उस स्थान के जनसंख्यात्मक पर्यावरण से निर्धारित होता है।

5. राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं पर जनसंख्या का प्रभाव विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाएँ; जैसे-राजतन्त्र, प्रजातन्त्र आदि और विभिन्न सामाजिक संस्थाएँ; जैसे-दासता, सामन्तवाद, वर्ग-समाज और समतावादी समाज आदि जनसंख्या के आकार और घनत्व द्वारा प्रभावित होती हैं और जनसंख्यात्मक पर्यावरण में होने वाला परिवर्तन ही इन संस्थाओं के रूप में परिवर्तन उत्पन्न कर देता है; उदाहरण के लिए-जनाधिक्य की अवस्था में जनसंख्या का एक बड़ा भाग बिल्कुल अनुपयोगी और दूसरों के आदेशों का अन्धानुकरण करने वाला हो जाता है, जिसका अनुचित लाभ उठाकर कुछ व्यक्ति समाज में अधिक शक्ति प्राप्त कर लेते हैं; फलस्वरूप तानाशाही या राजनीतिक अव्यवस्था में वृद्धि होती है। दूसरी तरफ जनसंख्या सीमित होने की स्थिति में सभी को अपने विकास के प्रचुर अवसर प्राप्त होते हैं और सभी में अपना विवेक बना रहता है। इस प्रकार प्रजातंत्र का विकास होता है।

   अधिक जनसंख्या जहाँ दासता और सामन्तवाद को जन्म देती है; वहीं सीमित जनसंख्या एक न्यायपूर्ण और समाजवादी समाज की स्थापना में योगदान देती है।

6. युद्ध पर जनसंख्या का प्रभाव अनेक विद्वानों ने युद्ध और जनसंख्या की वृद्धि में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया है। माल्थस ने यह विचार व्यक्ति किया था कि युद्ध प्राकृतिक रूप से जनसंख्या की वृद्धि पर नियंत्रण रखते हैं। डबलिन (Dublin) के मतानुसार, "पिछले महायुद्धों का कारण विभिन्न राष्ट्रों पर जनसंख्या का दबाव बहुत अधिक बढ़ जाना था।" हेराल्ड ने कहा है कि "जनसंख्या की वृद्धि के कारण अधिक आर्थिक साधनों को प्राप्त करने की आवश्यकता ही युद्धों का कारण रही है।" कुछ विद्वानों का मत है कि जनसंख्या की वृद्धि से आरंम्भ में राजनीतिक संगठन दुर्बल हो जाता है; जिसे संगठित करने के लिए आर्थिक साधनों की आवश्यकता होती है और इसी के परिणामस्वरूप युद्ध उत्पन्न होते हैं।

7. जनसंख्या और क्रान्ति-कार्ली (Karli) को उद्धृत करते हुए सोरोकिन ने अपनी पुस्तक 'Social and Cultural Mobility' में लिखा है कि" जिस अवधि में जनसंख्या में अधिक परिवर्तन हो रहे होते हैं; उसी अवधि में व्यक्तियों में मानसिक अस्थिरता भी सबसे अधिक होती है। यही अस्थिरता क्रान्ति और आन्तरिक संकटों का कारण है। जनसंख्या में अधिक ह्रास या वृद्धि होने से समाज के विभिन्न वर्गों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति में भी उतार-चढ़ाव होता है। इस प्रक्रिया में निम्न वर्ग के व्यक्तियों को उच्च वर्ग में जाने से रोकने के जितने अधिक प्रयत्न किए जाते हैं; क्रान्ति की संभावना उतनी ही अधिक हो जाती है।"

8. जनसंख्या के आकार द्वारा विचारों में परिवर्तन कुछ विद्वानों का मत है कि जनसंख्या का घनत्व अधिक होने और व्यक्तियों में गतिशीलता की प्रवृत्ति होने से समानता और प्रजातंत्र की विचारधारा का अधिक सरलता से प्रसार हो जाता है। कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि जनसंख्या के आकार और घनत्व में वृद्धि होने से सामाजिक विभेदीकरण में वृद्धि होती है; जिसके कारण व्यक्ति समूह के नियंत्रण से स्वतंत्र हो जाता है। यह स्थिति उसे व्यक्तिवादी बना देती है और वह जाति व प्रजाति की संकीर्णता से निकलकर सम्पूर्ण मानवता के बारे में सोचने लगता है तथा उसकी विचारधारा पहले

की तुलना में अधिक उदार हो जाती है। इसके अतिरिक्त जनसंख्या के आकार और घनत्व में वृद्धि होने से विभिन्न प्रजातियों, वर्गों, धर्मों, परिवारों आदि के व्यक्तियों के बीच सम्पर्क भी बढ़ता है और उनमें एक-दूसरे को समझने की भावना उत्पन्न होती है; उदाहरण के लिए-समानता की विचारधारा का सर्वाधिक विकास रोमन साम्राज्य और फ्रांस की अन्तिम क्रान्ति के दौरान हुआ। यह वह समय था; जब वहाँ जनसंख्या के आकार, घनत्व और गतिशीलता में सबसे अधिक वृद्धि हुई थी। वर्तमान समय में भी जनसंख्या के आकार और घनत्व में अधिक वृद्धि होने के कारण ही प्रजातंत्र का सबसे अधिक विकास हो रहा है।

9. जनसंख्या का समाज की प्रगति और विनाश से सम्बन्ध प्रो. गिनी (Gini) ने समाज के उद्विकास को एक चक्रीय प्रक्रिया के द्वारा स्पष्ट किया है; जिसमें जनसंख्यात्मक कारकों के कारण विनाश और विकास की स्थिति उत्पन्न होती रहती है। उनका मत है कि विकास के प्रथम चरण में जनसंख्या के आकार और घनत्व में वृद्धि होती है; जिसके कारण सामाजिक विभेदीकरण बढ़ना आरंभ हो जाता है। इसके साथ ही विभिन्न स्थानों पर जनसंख्या के आकार में इतनी अधि क वृद्धि हो जाती है कि अतिरिक्त व्यक्तियों को या तो स्थान बदलना जरूरी हो जाता है अथवा युद्धि की प्रवृत्ति बढ़ने लगती है। इस स्थिति में समाज के अधिक शक्तिशाली, उत्साही और अनुभवी व्यक्ति ऐसे स्थानों को छोड़कर सैन्य शक्ति को संगठित करने लगते हैं।

दूसरे चरण में उपर्युक्त कारणों से जनसंख्या कम होने लगती है। इस चरण में निम्न वर्ग के व्यक्ति उच्च वर्ग में जाने लगते हैं और समाज का ढाँचा अधिक प्रजातंत्रीय बनने लगता है। इस स्तर में कला, साहित्य और उद्योगों का विकास होता है। तथा समाज की चारों ओर से प्रगति होती है।

तीसरे चरण में नगरों का आकर्षण बढ़ता है और गाँवों के लोग शहरों में निवास करना प्रारम्भ कर देते हैं। इससे गाँव में जनसंख्या की अत्यधिक कमी पैदा हो जाती है। इससे कृषि व्यवसाय पतन की ओर चला जाता है तथा कच्चे माल की कमी हो जाती है, जो उद्योगों के संचालन की समस्या उत्पन्न कर देते हैं; जबकि नगरों में खाद्यान्न और कच्चे माल की अधिक आवश्यकता होने लगती है। कच्चे माल के अभाव में उद्योगों का ह्रास होता है और प्रति व्यक्ति आय कम हो जाती है। सरकार अपने खर्चों को करने के लिए अधिक कर लगाना आरम्भ कर देती है। जन-सामान्य का आर्थिक स्तर गिर जाने से वे इन करों का विरोध करते हैं; फलस्वरूप अव्यवस्था, अराजकता, वर्ग संघर्षों तथा सामाजिक संकटों में वृद्धि होती है। यह आर्थिक प्रगति को अवरुद्ध कर देता है।

जनसंख्यात्मक कारकों के प्रभाव का मूल्यांकन (Evaluation of Demographic Factors)

विद्वानों ने अनेक तर्कों के आधार पर सामाजिक परिवर्तन में जनसंख्यात्मक कारकों के प्रभाव का मूल्यांकन करते हुए इसकी आलोचना की है। यथा-

1. जनसंख्या सामाजिक परिवर्तन का एकमात्र कारक नहीं जनांकिकी विद्वानों का विचार है कि जनसंख्या के आकार और इसकी संरचना में होने वाले परिवर्तन ही हमारे सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, वैचारिक और सांस्कृतिक जीवन को प्रभावित करते हैं, लेकिन समाजशास्त्र के अधि कांश विद्वान उनके इस मत से सहमत नहीं हैं। हॉबहाउस और गिन्सबर्ग ने अपने अध्ययनों के आधार पर यह प्रमाणित किया है कि अनेक समाजों में जनसंख्या के घनत्व में कोई परिवर्तन न होने पर भी वहाँ विवाह के स्वरूप, विश्वासों और व्यवहार-प्रतिमानों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं।

2. सामाजिक गतिशीलता भी पूर्णतया जनसंख्यात्मक परिवर्तनों का विषय नहीं-भारत में स्वतन्त्रता के पश्चात् अनेक राजनीतिक, प्रौद्योगिकी और वैचारिक परिस्थितियों के फलस्वरूप ही सामाजिक गतिशीलता में इतनी अधिक वृद्धि हुई है; न कि केवल जनसंख्यात्मक परिवर्तनों के कारण।
3. जनसख्यात्मक विशेषताओं का भिन्न-भिन्न समाजों को भिन्न-भिन्न रूप से प्रभावित करना कुछ विद्वानों का मत है कि समान जनसंख्यात्मक विशेषताएँ सभी समाजों को समान रूप से प्रभावित नहीं करती हैं; उदाहरण के लिए-एशियाई समाजों में जनसंख्या की वृद्धि ने अनेक समस्याएँ उत्पन्न की हैं, जबकि यूरोपीय समाजों में जनसंख्या की वृद्धि सामाजिक और आर्थिक विकास में सहायक सिद्ध हुई है।
4. सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं के परिवर्तन पर भी जनसंख्यात्मक प्रभाव स्पष्ट नहीं-साधारणतया जनसंख्या में बिना कोई परिवर्तन हुए ही तानाशाही और सामन्तवाद के स्थान पर लोकतन्त्रीय अथवा साम्यवादी राजनीतिक संस्थाओं का विकास हुआ है। राजनीतिक संस्थाओं के इस परिवर्तन का कारण सामाजिक चेतना और नव जागरण है; जनसंख्या का प्रभाव नहीं।
5. जनसंख्या का प्रभाव क्रान्ति का प्रमुख कारण नहीं-यद्यपि कार्ली ने जनसंख्या की वृद्धि को क्रान्ति का सबसे प्रमुख कारण माना है, लेकिन यह कथन बहुत भ्रमपूर्ण है। वास्तविकता यह है कि संसार की अनेक महान क्रान्तियाँ जनसंख्या में बिना कोई वृद्धि हुए ही उत्पन्न हो गईं।

सामाजिक परिवर्तन के सांस्कृतिक कारक (Cultural Factors of the Social Changes)

विभिन्न विद्वानों ने सामाजिक परिवर्तन से सम्बन्धित सांस्कृतिक कारकों में सांस्कृतिक पिछड़ापन, प्रौद्योगिक पिछड़ापन, प्रतिरोध, सांस्कृतिक संघर्ष तथा सांस्कृतिक विसंयुजता को अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। इनका वर्णन इस प्रकार है-

I. सांस्कृतिक विलम्बना अथवा पिछड़ापन का सिद्धान्त (Theory of Cultural Lag)-संस्कृति के दो पक्षों में से एक पक्ष का पीछे रह जाना ही सांस्कृतिक विलम्बना या पिछड़ापन के नाम से जाना जाता है।

ऑगबर्न और सांस्कृतिक विलम्बना (Ogburn and Cultural Lag)

ऑगबर्न महोदय ने सांस्कृतिक विलम्बना को सामाजिक परिवर्तन के साथ जोड़ा है। सरल शब्दों में, उनका सारभूत कथन यह है कि संस्कृति का तात्पर्य भौतिक तथा अभौतिक तत्त्वों से है। संस्कृति में भौतिक तत्त्व की तुलना में अभौतिक तत्त्व पीछे रह जाते हैं। इससे संस्कृति में असन्तुलन पैदा हो जाता है और यही असन्तुलन सांस्कृतिक विलम्बना के नाम से जाना जाता है। ऑगबर्न के ही शब्दों में सांस्कृतिक विलम्बना-" वह तनाव है, जो तीव्र असमान गति से परिवर्तित होने वाले दो परस्पर सम्बन्धित भागों में विद्यमान होता है।" उदाहरणार्थ-व्यक्ति बैलगाड़ी से वायुयान की स्थिति पर आ गया है। साइकिल, मोटर, ट्रेन, टेलीविजन, टेलीफोन, हवाई जहाज आदि सभी भौतिक उन्नति के परिचायक हैं। इन क्षेत्रों में प्रगति काफी सरल होती है। मनुष्य की सहज प्रवृत्ति होती है-इन सब भौतिक उत्पादनों के प्रति अपने आपको समर्पित करने की या सरल शब्दों में यह कह सकते हैं कि मनुष्य भौतिक साधनों के प्रति झुकाव रखता है। आज गाँव शहरों के रूप में परिवर्तित होते जा रहे हैं। इतना कुछ होने के उपरान्त भी हममें पारिवारिक परिवर्तन नगण्य है।

सांस्कृतिक विलम्बना क्यों? (Why Cultural Lag?)

समाजशास्त्री ऑगबर्न ने सांस्कृतिक विलम्बना के निम्नांकित कारण बताए हैं-

1. रूढ़िवादिता समाज के मूल्यों में तुरन्त परिवर्तन न आने के पीछे कई कारण विद्यमान हैं। व्यक्ति अपने पारस्परिक मूल्यों को अधिक महत्त्व देता है। पारम्परिक खान-पान, वेशभूषा, रहन-सहन के तरीके, आचार-विचार आदि उसके जीवन में इतने अधिक समाहित हो गए हैं कि वह भौतिक परिवर्तन कर सकता है, लेकिन मूल्यों में नहीं। अतः रूढ़िवादिता परिवर्तन की गति को धीमी कर देती है।
2. नये विचारों का भय-नये विचारों के प्रति लोगों में डर की भावना पाई जाती है। वे इस बात पर ध्यान देते हैं कि उनसे उन्हें नुकसान भी हो सकता है, तो लाभ भी। इसलिए वे प्राचीनता से जुड़े रहते हैं। अतः इससे भी संस्कृति में विलम्बना आती है।
3. पुराने के प्रति निष्ठा-यह बात भी सत्य है कि हम बदलना चाहते हैं, परन्तु फिर भी नहीं बदल रहे हैं। इसका कारण अतीत के प्रति हमारी निष्ठा का भाव ही है, अर्थात् हम पुराने को यथावत् रखने में विश्वास करते हैं। हमारे पूर्वजों का ज्ञान, रहन-सहन, वेशभूषा आदि हमें प्रेरणा देती है और हम उनके साथ अनुकूलन करने में ही अपना हित समझते हैं। इसका परिणाम यह निकलता है कि अभौतिक परिवर्तन सम्भव नहीं हो पाता।
4. निहित स्वार्थ-समाज के उच्च वर्ग के लोगों ने भौतिक एवं अभौतिक क्षेत्रों में परिवर्तन के प्रति उदासीनता दर्शाई है; जिसका कारण उनका व्यक्तिगत स्वार्थ है, क्योंकि पूँजीपति यह सोचता है कि यदि कोई नवीन तरीका कार्य-पद्धति के रूप में अपनाया जाएगा तो इससे उसका लाभ छिन सकता इस कारण वे पुराने तरीके से ही जुड़े रहते हैं, उसे अपने उत्पादन के क्षेत्र में अपनाते हैं। इस कारण भी संस्कृति में विलम्बना आती है।
5. नवीन विचारों की परीक्षा में कठिनता-ऑगबर्न एवं निमकॉफ ने अपनी पुस्तक में लिखा है, नवीन विचारों को समझने में कठिनाई आने के कारण भी मनुष्य ने पुराने विचारों को स्थान दिया। इससे भी सांस्कृतिक विलम्बना को स्थान मिला।

सांस्कृतिक विलम्बना के परिणाम (Consequences of Cultural Lag)

सांस्कृतिक विलम्बना का सभी क्षेत्रों में क्रान्तिकारी प्रभाव पड़ता है; चाहे वह समाज हो, संस्कृति हो, आर्थिक व्यवस्था हो या आध्यात्मिक अथवा राजनीतिक व्यवस्था। ऑगबर्न ने निम्नलिखित परिणामों का उल्लेख किया है-

1. सामाजिक परिवर्तन,
2. व्यक्तिगत और सामुदायिक विघटन,
3. संस्थाओं के कार्यों का हस्तान्तरण
4. सामाजिक समस्याओं की संख्या में वृद्धि आदि।

इस विषय में ए. पी. हर्मन (A. P. Herman) के अनुसार नयी सामाजिक समस्याओं का तभी विकास होता है; जबकि पूरी सामाजिक संस्थाएँ बहुत जटिल हो जाती हैं और जब समाज नए साधनों का निर्माण करता है या अपना लेता है, लेकिन परिणामों को रोक नहीं पाता है। हर्मन औद्योगिक मशीनों, दवाओं, नए क्षेत्रों की खोज, बाढ, भूकम्प और बीमारियों आदि का उदाहरण देते हैं।

आलोचना-यद्यपि ऑगबर्न ने बहुत सोच-समझकर कुशल दृष्टि से समाज के बदलते पक्षों को देखा है, लेकिन इसके बावजूद भी उनका यह प्रतिपादित मत अनेक कमियों से भरा पड़ा है, जो निम्नलिखित हैं-

1. यह आवश्यक नहीं है कि भौतिक संस्कृति ही अभौतिक संस्कृति से आगे निकलती हो। भारत में भौतिक जीवन की तुलना में अभौतिकता के प्रति विशेष रुझान है।
2. ऑगबर्न सामाजिक परिवर्तन का मूल कारण सांस्कृतिक विलम्बना को ही मानते हैं, लेकिन विद्वानों ने इसको सही नहीं माना है।
3. यह देखा जाता है कि सांस्कृतिक विलम्बना सामाजिक परिवर्तन को जन्म देती है, परन्तु ऐसे भी उदाहरण हैं; जहाँ भौतिक और अभौतिक संस्कृति में परिवर्तन की दर की दृष्टि से समानता है। इस समानता के बावजूद सामाजिक परिवर्तन का जन्म होता है।
4. भौतिक संस्कृति में आने वाले परिवर्तनों को नापा जा सकता है। स्थूल प्रकृति के परिवर्तन होने के कारण उन्हें सहज ही अनुभव किया जा सकता है, लेकिन अभौतिक संस्कृति के परिवर्तन सूक्ष्म प्रकृति के होने के कारण नापे नहीं जा सकते। दोनों की पारस्परिक विलम्बना का अनुमान भी लगाना ऐसी दशा में असम्भव हो जाता है। अतः यह कहना बहुत कठिन है कि अभौतिक पक्ष पिछड़ रहा है या भौतिक पक्ष उन्नत हो रहा है।
5. ऑगबर्न के अनुसार प्रदत्त भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति में भेद भी स्पष्ट है।
6. ऑगबर्न के मत के बारे में सदरलैण्ड और वुडवर्ड का कथन है कि उन्होंने सामाजिक परिवर्तन को अत्यधिक सरलतम रूप में चित्रित किया है। वस्तुतः सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया और सांस्कृतिक संगठन बहुत ज्यादा जटिल अवधारणाएँ हैं।

II. प्रौद्योगिक पिछड़ापन (Technological Lag)-प्रौद्योगिक पिछड़ापन का अर्थ भौतिक संस्कृति, विशेषकर प्रौद्योगिक व्यवस्था के परस्पर सम्बन्धि त भागों में उत्पन्न होने वाली असन्तुलन की स्थिति से है; उदारहण के लिए मोटरों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हो जाए लेकिन सड़कें उतनी ही तंग रहें, मशीनों की वृद्धि से उत्पादन बढ़ जाए लेकिन गोदामों का निर्माण न हो, सूत की कताई-बुनाई तो मशीनों से हो लेकिन छपाई और पैकिंग का काम हाथ द्वारा ही किया जाए। ऐसी स्थिति में उत्पादन की सम्पूर्ण प्रक्रिया के विकास में बाधा पड़ेगी। इस असन्तुलन को दूर करने के लिए जो भी प्रयत्न किए जाएँगे वे किसी-न-किसी मात्रा में आर्थिक सम्बन्धों को अवश्य प्रभावित करेंगे जिसके फलस्वरूप सामाजिक परिवर्तन उत्पन्न हो जाने की संभावना हो जाएगी।

प्रौद्योगिक पिछड़ापन को समझने की महत्त्वपूर्ण कसौटी ‘‘मापने की क्षमता’ है; जिसके द्वारा किसी प्रक्रिया में कार्य करने वाले विभिन्न कारकों की तुलनात्मक क्षमता का मूल्यांकन किया जा सके। इसकी सहायता से हम यह जान सकते हैं कि कौन से कारक आगे बढ़ रहे हैं और कौन से कारक अपनी कुशलता छोड़कर सम्पूर्ण उत्पादकता में बाधा डाल रहे हैं। किसी भी स्थिति में प्रौद्योगिकी के विभिन्न कारकों का असन्तुलन सामाजिक संगठन को प्रभावित करके परिवर्तन की स्थिति उत्पन्न करता है।

III. प्रौद्योगिक प्रतिरोध (Technological Restraint)-‘‘प्रौद्योगिक प्रतिरोध’ शब्द का प्रयोग उस स्थिति के लिए किया जाता है; जबकि पहले से ही स्थापित कुछ स्वार्थों के कारण व्यक्ति उत्पादन के नए उपकरणों, पद्धतियों, एजेन्सियों तथा अधिक कुशल साधनों का बहिष्कार करते हैं अथवा

उनकी प्रगति रोकने का प्रयत्न करते हैं; उदाहरण के लिए सन् 1930 में जब भारत में सर्वप्रथम चीनी का कारखाना स्थापित हुआ, तब गुड़ और देशी शक्कर के उत्पादकों ने यह प्रचार करना शुरू किया कि इसमें हड्डी और अन्य अपवित्र पदार्थों का उपयोग होता है। ऐसा करना उनके हितों के अनुकूल था। मैकाइवर ने ऐसे तीन प्रमुख प्रौद्योगिक प्रतिरोधों का उल्लेख किया है। यथा

1. नौकरशाही स्वार्थ द्वारा निर्धारित प्रतिरोध सरकारी अधिकारियों द्वारा मितव्ययी और अधिक कुशल विधियों का प्रतिरोध करना एक सामान्य सी बात है क्योंकि इसके द्वारा वे अनेक अधिकारों से वंचित हो सकते हैं अथवा उन्हें पहले की अपेक्षा अधिक कार्य कारना पड़ सकता है। भारत का अधिकारी वर्ग और विश्वविद्यालयों का तथाकथित बौद्धिक वर्ग हिन्दी का विरोध इसलिए करता है कि उन्हें नयी भाषा में कुशलता प्राप्त करने में समय लगेगा।

2. आर्थिक स्वार्थ द्वार निर्धारित प्रतिरोध-कुछ व्यक्ति नई प्रविधियों और नए साधनों का प्रतिरोध इसलिए करते हैं, जिससे उनके लाभ की मात्रा में कमी न हो; उदाहरण के लिए मालिक वर्ग नए आविष्कारों का प्रतिरोध इसलिए करता है, जिससे उनकी पुरानी मशीनों की अपेक्षा अन्य व्यक्ति अच्छी मशीनें प्राप्त न कर ले। श्रमिक वर्ग अभिनवीकरण को श्रमिकों के आर्थिक हितों का विरोधी मानता है और उसका प्रतिरोध करता है।

3. सांस्कृतिक स्वार्थ द्वारा निर्धारित प्रतिरोध-इसके अन्तर्गत प्रमुख रूप से हम उन प्रतिरोधों को सम्मिलित करते हैं जो किसी समाज के नेताओं तथा समूह के रूढ़िगत विचारों, परम्पराओं अथवा कुछ विशेष नैतिक सिद्धान्तों के कारण उत्पन्न होते हैं; उदाहरण के लिए भारत में गर्भ निरोधक साधनों का प्रतिरोध इसलिए किया जाता है कि इससे"पवित्रता' के परम्परागत मूल्य पर आघात होने का डर रहता है। इस प्रकार अनेक प्रतिरोध सांस्कृतिक स्वार्थों के दृष्टिकोण से ही आरम्भ होते हैं। इस स्थिति में संस्कृति के विभिन्न तत्त्वों में असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसका परिणाम सामाजिक परिवर्तन होता है।

IV. सांस्कृतिक संघर्ष (Cultural Conflict) जब एक समाज में विभिन्न धर्मों और विभिन्न मूल्यों वाले सांस्कृतिक समूह बाहर से आकर बसते हैं, तब उनका वहाँ की भौतिक संस्कृति से संघर्ष होता है। एक विरोधी संस्कृति से केवल यही भय नहीं होता कि वह पुराने सामाजिक मूल्यों पर बुरा प्रभाव डालेगी बल्कि अधिक भय यह होता है कि नयी संस्कृति पुरानी संस्कृति का स्थान ग्रहण न कर ले। यह संघर्ष साधारणतया दो ऐसी संस्कृतियों के बीच होता है; जिनका विकास एक-दूसरे से बाहर दूर रहकर हुआ हो। संस्कृति-संघर्ष अनेक गृहयुद्धों और क्रान्तियों तक का कारण रहा है। संस्कृति-संघर्ष की स्थिति तब उत्पन्न होती है जब एक संस्कृति का दूसरी संस्कृति से अनुकूलन नहीं हो पाता। अनेक देशों में सांस्कृतिक संघर्ष तब भी उत्पन्न हो जाता है; जब एक ही संस्कृति के विभिन्न पक्षों के बीच असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न हो गई हो। ओलसेन (Olsen) ने हाल ही में ऐसी जिन परिस्थितियों का उल्लेख किया है, उनमें से कुछ प्रमुख दशाएँ निम्नांकित हैं-

1. वैयक्तिक क्रियाओं और सामाजिक व्यवस्था के बीच तनाव-वैयक्तिक क्रियाओं और सामाजिक व्यवस्था के बीच तनाव की स्थितियाँ निम्न रूप में दिखायी देती हैं

   (i) जब व्यक्ति सामाजिक व्यवस्था की इकाई के रूप में कार्य नहीं करता है।

   (ii) जब मनुष्य समाज द्वारा अस्वीकृत कार्यों को अपनाने में रुचि लेता है।

   (iii) सामाजिक पदों के दायित्वों का निर्वाह न करना।

2. संस्कृति और सामाजिक व्यवस्था के बीच तनाव-संस्कृति और सामाजिक व्यवस्था के बीच तनाव को दर्शाने वाली स्थितियाँ निम्नांकित हैं-

   (i) सामजिक मूल्यों के प्रति निराशा;

   (ii) मौलिक सामाजिक मूल्यों और वर्तमानकालीन मूल्यों में अन्तर आना।

   (iii) प्रौद्योगिकी का तेज गति से प्रचार-प्रसार।

   (iv) सांस्कृतिक आदर्शों और वास्तविक व्यवहारों में भिन्नता।

3. सामाजिक व्यवस्था के अन्दर ही तनाव अनेक कारणों से सामाजिक व्यवस्था के अन्दर ही तनाव पैदा हो जाता है; जैसे-

   (i) व्यक्तियों की आवश्यकता पूर्ति में बाधाओं का उत्पन्न होना।

   (ii) समाज में उत्पादन के साधनों का असमान वितरण।

   (iii) वर्तमान व्यवहारों पर नियंत्रण की कमी।

   इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रत्येक सांस्कृतिक संघर्ष नवीन परिस्थियाँ उत्पन्न करता है और इस प्रकार व्यक्तियों के सामने नए सिरे से जीवन से अनुकूलन करने की समस्या उत्पन्न हो जाती है। फलस्वरूप सामाजिक परिवर्तन के लिए भी उपयुक्त वातावरण का निर्माण हो जाता है।

V. सांस्कृतिक प्रसार सांस्कृतिक प्रसार के अन्तर्गत एक संस्कृति के तत्त्व दूसरे समूहों में फैलते हैं और उन समूहों की संरचना को प्रभावित करते हैं। इससे उनके अनुरूप सामाजिक जीवन में परिवर्तन आता है।

VI. पर-संस्कृति ग्रहण-पर-संस्कृति ग्रहण वह प्रक्रिया है; जिसमें दो संस्कृतियों का सम्पर्क होने पर एक संस्कृति दूसरे पर छा जाती है और उस समूह के लोगों की सम्पूर्ण जीवन-विधि को ही परिवर्तित कर देती है। इस स्थिति में भी पर-संस्कृति ग्रहण करने वाले समूह की सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन आता है।

VII. सांस्कृतिक विसंयुजता (उभयवृत्तिता) (Cultural Ambivalence)-सांस्कृतिक विसंयुजता का अर्थ संस्कृति से वैयक्तिक अभियोजन न हो पाने की स्थिति से है। किसी समाज में प्रचलित लोकाचारों की उपयोगिता के अनुसार व्यक्ति उनसे समायोजन करते हैं क्योंकि ऐसा करना उनके व्यक्तित्व की सफलता के लिए आवश्यक होता है। लेकिन जब जीवन की आरम्भिक अवस्था में ही व्यक्ति को अपने समाज से भिन्न किसी दूसरी संस्कृति के प्रतिमानों का भी सामना करना पड़ता है, तब व्यक्तिगत रूप से वह इस स्थिति से समायोजन करने में असफल हो जाता है। संक्षेप में, इसी स्थिति को हम "सांस्कृतिक उभयवृत्तिता' कहते हैं।

जब एक ही समाज में दूसरी संस्कृति के भी कुछ व्यक्ति आकर बस जाते हैं, तब उनकी संस्कृति में कुछ आकर्षण होने के कारण हम प्रायः उनकी विशेषताओं को ग्रहण करना आरम्भ कर देते हैं लेकिन साथ ही हमारे मन में उनके प्रति अवहेलना और तिरस्कार के भी विचार होने के कारण उनसे पूरी तरह अनुकूलन करना कठिन हो जाता है और इस प्रकार सांस्कृतिक विसंयुजता की समस्या उत्पन्न हो जाती है। हमारे समाज में स्थानीय गतिशीलता के बढ़ने से विभिन्न प्रान्तों के व्यक्तियों का साथ-साथ रहना कुछ समय के लिए सांस्कृतिक विसंयुजता की स्थिति का उदाहरण है।

निष्कर्ष-उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट होता है कि सांस्कृतिक कारक प्रौद्योगिकी के कारकों को प्रभावित करके उसकी दिशा को भी निर्धारित करते हैं। हमारे सामाजिक सम्बन्धों का स्वरूप तथा व्यक्तित्व का विकास भी बहुत बड़ी सीमा तक सांस्कृतिक कारकों द्वारा ही प्रभावित होता है। संस्कृति ही प्रौद्योगिकी को शक्ति देती है और हमारे व्यवहारों को एक विशेष चरित्र प्रदान करती है।

bdkÃ&12

सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त (Theories of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया प्रत्येक समाज में होती है, कहीं पर कम तथा कहीं पर ज्यादा। इस प्रकार के परिवर्तन क्यों होते हैं, इसके लिए अलग-अलग समाजशास्त्रियों ने अलग-अलग विचार प्रस्तुत किए हैं, जिन्हें समाजशास्त्र में सामाजिक परिवर्तन का सिद्धान्त कहा जाता है; उनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं-

I. सामाजिक परिवर्तन का चक्रीय सिद्धान्त या सामाजिक परिवर्तन का पेण्डुलम सिद्धान्त (Cyclic Theory or Pendulam Theory of Social Changes)

इस सिद्धान्त के समर्थकों में से विक्को बोश्यूट तथा मैकाइवर इत्यादि प्रमुख हैं; जिन्होंने यह विचारध रा प्रकट की थी कि समाज में सामाजिक परिवर्तन उसी प्रकार से होता है, जिस प्रकार कि एक चक्र में होता रहता है। चक्र की प्रक्रिया के अन्तर्गत यह देखा जाता है कि जो भाग अपनी स्थिति को छोड़ता है, वह दूसरी स्थिति में आता है, तीसरी स्थिति में आता है और विकास की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप फिर से अपनी पूर्व स्थिति में आ जाता है। समाज में ढाँचे, फैशन, रीतिरिवाजों, रूढ़ियों एवं जीवन की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में इस प्रकार की प्रक्रिया के आधार पर परिवर्तन होते रहेंगे।

कुछ समाजशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त को सामाजिक परिवर्तन का पेण्डुलम सिद्धान्त भी कहा है अथवा पेण्डुलम की अस्थिरता की प्रकृति की तरह समाज में परिवर्तन आते रहे हैं। इस सिद्धान्त के समर्थकों ने अपने सिद्धान्त को निम्नलिखित तर्कों के आधार पर स्पष्ट किया है

1. प्राकृतिक शक्तियों में चक्रीय सिद्धान्त-मैकाइवर का कथन है कि जिस प्रकार प्राकृतिक शक्तियों में चक्रीय सिद्धान्त लागू होते हैं, अर्थात् गर्मी, सर्दी, बरसात, बसन्त इत्यादि प्राकृतिक मौसम लगातार एक चक्र की तरह बदलते रहते हैं, उसी प्रकार समाज में भी सामाजिक परिवर्तन होते रहते हैं।

2. आयु अवस्थाओं में चक्रीय सिद्धान्त-चक्रीय सिद्धान्त के अनुयायियों का कथन है कि मनुष्य के जीवन की आयु अवस्थाओं पर भी चक्रीय सिद्धान्त लागू होता है अर्थात् बाल्यावस्था, किशोरावस्था एवं युवावस्था एवं वृद्धावस्था के अनुसार मानव जीवन चलता है और कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि वृद्धावस्था के बाद भी फिर से बाल्यावस्था, किशोरावस्था एवं युवावस्था के गुण-दोष झलकते हुए नजर आने लगते हैं। बूढ़े भी बच्चों की भाँति व्यवहार करने लगते हैं।

3. राजनीतिक क्षेत्र में चक्रीय सिद्धान्त-भारत में पहले निरंकुश तन्त्र को स्वीकार एवं पसन्द किया जाता था। इसके पश्चात् प्रजातन्त्रीय सरकार को स्वीकार किया गया। किन्तु आज देश में प्रजातन्त्रीय व्यवस्था में अराजकता फैलने लगी तो निरंकुश शासन द्वारा ही सरकार ने स्थिति को ठीक किया है।

4. संगीत के क्षेत्र में चक्रीय सिद्धान्त-पहले समाज में शास्त्रीय संगीत को अधिक पसन्द किया जाता था, किन्तु आज रोमान्स वाले संगीत को पसन्द करते हैं। फिर भी इन दिनों यह भी देखा जा रहा है कि समाज के लोग फिर से शास्त्रीय संगीत को पसन्द करने लगे हैं।

आलोचना-यद्यपि चक्रीय सिद्धान्त ने समाजशास्त्रीय साहित्य की वृद्धि में योगदान दिया है, मगर आधुनिक

समाजशास्त्री इसे स्वीकार नहीं करते हैं। उनके अनुसार, यह एक अवैज्ञानिक विचारधारा है, क्योंकि इस सिद्धान्त के समर्थकों ने केवल प्राकृतिक अवस्थाओं अथवा निर्जीव रूपों पर परीक्षण एवं अनुसंधान करके निष्कर्ष निकाले हैं, जो मानवीय जगत् पर खरे नहीं उतरते हैं। दूसरे, यह आवश्यक नहीं है कि निरंकुश तन्त्र के बाद लोग फिर से प्रजातन्त्र से गुजरे हुए निरंकुश तन्त्र को ही स्वीकार करें।

चक्रीय सिद्धान्तकारों में स्पेंग्लर, टायनबी, पैरेटो ओर सोरोकिन प्रमुख हैं। इनकी विवेचना निम्नलिखित है-

1. स्पेंग्लर का सिद्धान्त (Theory of Spengler)-जर्मन विद्वान स्पेंग्लर ने अपनी पुस्तक The decline of the West' में कहा है कि सामाजिक परिवर्तन का एक चक्र चलता है, हम जहाँ से प्रारम्भ होते हैं, पुन: वहीं पहुँच जाते हैं। उन्होंने विश्व की आठ समस्याओं की विवेचना करते हुए, उनके उत्थान-पतन को दिखाया है। उनका कहना है कि संस्कृतियाँ तान्त्रिक व्यवस्थाएँ हैं और वे उत्पन्न होकर विकसित होती हैं और चरम विकास के बाद पतन को प्राप्त हो जाती हैं।

   स्पेंग्लर के मत को निम्न रेखाचित्र के द्वारा स्पष्ट किया गया है-

   स्पेंग्लर का कहना है कि एक संस्कृति के पतन के बाद उसका फिर से लौटना सम्भव नहीं है।

   आलोचना-इस सिद्धान्त की आलोचना निम्न आधारों पर की गई है-

   1. इसका आधार सावयव है; जो कि उचित नहीं है।
   2. इसमें अनेक ऐतिहासिक तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत किया गया है।
   3. इसमें यह स्पष्ट नहीं होता कि किसी समाज की सभ्यता या संस्कृति के विकास का अन्तिम बिन्दु कौनसा है?

2. सोरोकिन का सामाजिक परिवर्तन का सिद्धान्त (Sorokin's Theory of Social Change)-सोरोकिन ने अपनी पुस्तक "सामाजिक तथा सांस्कृतिक गतिशीलता' में सामाजिक परिवर्तन का सांस्कृतिक गतिशीलता का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। सोरोकिन ने रैखिक प्रक्रियाओं की घटनाओं को मानते हुए अन्य चक्रवत् प्रक्रियाओं की ओर ध्यान आकर्षित किया है, जो मानव समाजों में घटत होती हैं। उसने तीन विशिष्ट प्रकार; प्रत्यात्मक, आदर्शवादी और इन्द्रियबोधात्मक आदि संस्कृतियों में भेद किया है, जिन्हें वह समाज के इतिहास में चक्रवत् रूप से एक के बाद एक आते-जाते देखता है। सोरोकिन ने मार्क्स, पेरेटो एवं वेबलिन के परिवर्तन सम्बन्धी सिद्धान्त की आलोचना की है। उनका मत है कि सामाजिक परिवर्तन उतार-चढ़ाव के रूप में घड़ी के पेण्डुलम की भाँति एक स्थिति से दूसरी स्थिति के बीच होता रहता है। उन्होंने प्रमुख रूप से दो संस्कृतियों-भावात्मक एवं चेतनात्मक का उल्लेख किया। प्रत्येक समाज संस्कृति की इन दो धुरियों के बीच घूमता रहता है, अर्थात् चेतनात्मक से भावात्मक की ओर तथा भावात्मक से चेतनात्मक की ओर आता-जाता रहता है। एक स्थिति से दूसरी स्थिति में जाने के दौरान मध्य में एक स्थिति ऐसी भी होती है; जिसमें चेतनात्मक एवं भावात्मक संस्कृति का मिश्रण होता है। इसे सोरोकिन आदर्शात्मक संस्कृति कहते हैं। विभिन्न संस्कृतियों के दौर से गुजरने पर समाज में भी परिवर्तन आता है।

इस तीनों प्रकार की संस्कृतियों की विशेषताओं को संक्षेप में निम्नांकित प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है :

(i) चेतनात्मक संस्कृति-चेतनात्मक संस्कृति को इन्द्रियपरक संस्कृति या भौतिक संस्कृति भी कहते हैं। यह संस्कृति सुखवादी होती है। इसका मुख्य उद्देश्य सुख प्राप्त करना होता है। अतः

यह भौतिकवादी होती है; इसमें नैतिकता व आध्यात्मिकता को कोई स्थान नहीं मिलता है।

(ii) विचारात्मक संस्कृति-यह संस्कृति भौतिक सुखों को कोई स्थान नहीं देती है। इसमें धर्म, नैतिकता तथा सादा जीवन और उच्च विचारों को स्थान दिया जाता है।

(iii) आदर्शात्मक संस्कृति यह संस्कृति दोनों के बीच की स्थिति है। इसमें इन्द्रियपरक व विचारात्मक दोनों के लक्षण पाए जाते हैं।

अतः आदर्शवादी संस्कृति में इन्द्रियपरक व विचारात्मक उतार-चढ़ाव होता रहता है; जिससे समाज में नए-नए परिवर्तन होते हैं।

सोरोकिन के सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of Sorokin's Theory)-यद्यपि सोरोकिन का सिद्धान्त तर्कसंगत, प्रमाणित एवं वैज्ञानिक है; इसमें अनेक तथ्यों के आधार पर सामान्यीकरण किया गया है, तथापि इसमें अनेक कमियाँ रह गयी हैं; जिनके आधार पर इसकी अनेक आलोचनाएँ की गई हैं। उनमें से कुछ प्रमुख आलोचनाओं को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत स्पष्ट किया गया है है

1. उद्विकासीय अवधारणा की उपेक्षा-सोरोकिन ने सम्पूर्ण सिद्धान्त में उद्विकास को कोई महत्त्व नहीं दिया गया है। परिवर्तन की सम्पूर्ण प्रक्रिया स्वतः ही संचालित बतलाई गई है।

2. लम्बी अवधि-इस सिद्धान्त के अन्तर्गत संस्कृति को एक स्तर या अवस्था से दूसरे स्तर या अवस्था में पहुँचने में इतना लम्बा समय लग जाता है कि इस अवधि में सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति को देखा ही नहीं जा सकता।

3. ऐतिहासिक प्रामाणिकता की कमी ऐतिहासिक आधार पर अनेक समाजों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर पता चलता है कि यह सिद्धान्त सार्वभौमिक नहीं है। अनेक ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर यह बात सिद्ध होती है कि इस सिद्धान्त के अनुसार सभी समाज चेतनात्मक संस्कृति से आदर्शात्मक होते हुए भावात्मक सांस्कृतिक स्तर पर ही पहुँचते हैं। इस बीच इनमें किस प्रकार का परिवर्तन आए, इसकी भविष्यवाणी नहीं की जा सकती।

4. परिवर्तन के कारण स्पष्ट नहीं सोरोकिन के इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमी यह है कि सोरोकिन अपने सिद्धान्त में सांस्कृतिक परिवर्तन के कारणों को स्पष्ट करने में असमर्थ रहे हैं और उन्होंने इसका मुख्य कारण केवल प्रकृति-नियम ही दिया है जो एक वैज्ञानिक के लिए पर्याप्त नहीं है।

II. सामाजिक परिवर्तन के रेखीय सिद्धान्त (Linear Theories of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन के रेखीय सिद्धान्त उद्विकासवादियों से प्रभावित हैं। रेखीय सिद्धांतकारों में कॉम्टे, स्पेंसर, हाबहाउस, मार्क्स तथा वेबलिन प्रमुख हैं। यहाँ प्रमुख रेखीय सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन निम्नांकित है-

1. कॉम्टे का सिद्धान्त (Theory of Comte)-कॉम्टे ने सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध मानव के बौद्धिक विकास से जोड़ा है। इन्होंने बौद्धिक विकास और सामाजिक परिवर्तन के तीन स्तर माने हैं

   (i) धार्मिक स्तर

   (ii) तात्त्विक स्तर

   (iii) वैज्ञानिक स्तर।

(i) धार्मिक स्तर-यह स्तर समाज की प्राथमिक अवस्था थी। इसमें विश्व की सभी क्रियाओं का आधार धर्म और ईश्वर को माना गया।

(ii) तात्विक स्तर-यह सामाजिक विकास का द्वितीय स्तर है। इसमें मानव का ईश्वरीय शक्ति में विश्वास कम हुआ और प्राणियों में विद्यमान अमूर्त शक्ति को ही समस्त घटनाओं के लिए उत्तरदायी माना गया।

(iii) वैज्ञानिक स्तर सामाजिक विकास का यह तीसरा स्तर है, इसमें मानव सांसारिक घटनाओं की व्याख्या वैज्ञानिक नियमों एवं तर्कों के आधार पर करता है। इस प्रकार कॉम्टे महोदय का मानना है कि मानव चिन्तन के विकास के साथ-साथ सामाजिक संरचना में भी परिवर्तन हुआ है।

स्पेंसर का सिद्धान्त (Spencer's Theory)-स्पेंसर, गोबिन्यू तथा लापोज आदि विद्वानों का मानना है कि समाज का निर्माण और प्रगति उन लोगों द्वारा सम्भव है; जो प्रजातीय दृष्टि से श्रेष्ठ होते हैं। जब किसी समाज मे प्रजातीय दृष्टि से हीन व्यक्ति होते हैं तो वह समाज पतन की ओर जाता है और श्रेष्ठ व्यक्तियों का समाज प्रगति करता है।

आलोचना-मानव समाज पर प्राकृतिक उद्विकास के सिद्धान्त को लागू करना सम्भव नहीं है।

कार्ल मार्क्स का सिद्धान्त (Theory of Karl Marx)-मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के आधार पर सामाजिक परिवर्तन की धारणा को स्पष्ट किया है। इनका विचार है कि मनुष्य की आवश्यकताओं को पूरा करने का आधार उत्पादन और प्रौद्योगिकी है। जब कभी भी उत्पादन की प्रतिविधि यों में परिवर्तन होता है तो हमारे आर्थिक सम्बन्धों में भी परिवर्तन हो जाता है। यह एक नयी आर्थिक संरचना होती है और इसी की नींव पर सामाजिक, वैधानिक तथा राजनीतिक अधिसंरचना का निर्माण होता है। इस प्रकार सामाजिक परविर्तन का आधारभूत कारण प्रौद्योगिकी में होने वाला परिवर्तन ही है। मार्क्स द्वारा दिए गए परिवर्तन के इस सिद्धान्त को निम्नांकित स्तरों के द्वारा सरलतापूर्वक समझा जा सकता है-

(i) उत्पादन के तरीकों में परिवर्तन

(ii) उत्पादन की शक्तियों में परिवर्तन

(iii) आर्थिक सम्बन्धों में परिवर्तन

(iv) सामाजिक परिवर्तन।

इस संस्तरण द्वारा मार्क्स ने यह स्पष्ट किया है कि जब कभी भी उत्पादन के तरीकों में परिवर्तन होता है, उत्पादन की शक्तियाँ भी तेजी से बदलने लगती हैं; जैसे जब उतपादन का उद्देश्य उपभोग की आवश्यकताओं को पूरा करना था, तब उत्पादन की शक्तियाँ बहुत अविकसित थीं, लेकिन जब उत्पादन लाभ प्राप्त करने के लिए किया जाने लगा तो उत्पादन की शक्तियों में महान् परिवर्तन हो गया। इस प्रकार बड़ी-बड़ी मशीनों का आविष्कार हुआ, कल-कारखानों की स्थापना हुई और एक ही स्थान पर हजारों की संख्या में श्रमिक साथ-साथ कार्य करने लगे। उत्पादन के तरीकों और उत्पादन की शक्तियों में परिवर्तन होने से आर्थिक सम्बन्धों में परिवर्तन होता है। मार्क्स का कथन है कि 19 वीं शताब्दी में औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप आर्थिक सम्बन्धों में होने वाला परिवर्तन वर्ग संघर्ष के रूप में हमारे सामने आया है। उत्पादन की शक्तियों में परिवर्तन होने से एक ऐसे वर्ग का निर्माण होता है जिसका उत्पादन के सभी साधनों पर पूर्ण अधिकार होता है; जबकि दूसरी ओर एक बड़ा वर्ग वह होता है जो सभी प्रकार के आर्थिक लाभों से वंचित हो जाता है।

प्रथम वर्ग को हम पूँजीपति वर्ग कहते हैं; जबकि दूसरे वर्ग को श्रमिक वर्ग कहते हैं। पूँजीपति वर्ग श्रमिकों का शोषण करते हैं। जब श्रमिकों में जागरूकता आ जाती है तो वे पूँजीपति वर्ग से अधिकार माँगते हैं। जब उन्हें अधिकार नहीं मिलते हैं तो वे संघर्ष कर देते हैं; जिसे वर्ग संघर्ष कहते हैं। इस संघर्ष में पूँजीपति वर्ग की पराजय होती है और श्रमिक वर्ग की विजय होती है। इससे उनको अधिकार प्राप्त होते हैं, जिसके परिणामस्वरूप उनके सामाजिक जीवन में नवीनता आती है। उसी नवीनता को सामाजिक परिवर्तन कहा जाता है। अतः मार्क्स के अनुसार वर्ग संघर्ष का इतिहास ही सामाजिक परिवर्तन का इतिहास है।

मार्क्स के सिद्धान्त की आलोचना-कार्ल मार्क्स के वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त की निम्न आलोचनाएँ की गई हैं-

1. मार्क्स के सिद्धान्त का सबसे बड़ा और प्रथम दोष इसके द्वारा एक ही कारण को अन्तिम मान लेना है। कोई व्यक्ति यह दावा नहीं कर सकता कि मनुष्य की भोजन की मूल प्रवृत्ति ही एकमात्र प्रेरक कारक है और यही सामाजिक परिवर्तन का आधार है।

2. मार्क्स के सिद्धान्त की मौलिक कमी उनकी अभिव्यक्ति की अनिश्चितता है। यह कहना कि आर्थिक कारक सामाजिक तथ्यों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और अंतिम हैं, गलत है। यदि मार्क्स के सिद्धान्त में विश्वास कर लिया जाए तब इसका अर्थ यह होगा कि युद्ध और शांति, निर्धनता और समृद्धता, दासता और स्वतंत्रता, क्रान्ति और शांति एक ही आर्थिक कारक के परिणाम होंगे। कोई भी व्यक्ति इन दशाओं को केवल आर्थिक कारकों का परिणाम मान लेने की भूल नहीं करेगा।

3. यह सिद्धान्त इसलिए भी दोषपूर्ण है कि इसमें अनेक शब्दों जैसे-आर्थिक कारक, उत्पादन की शक्तियाँ तथा सम्बन्ध और प्रौद्योगिकी आदि की परिभाषाएँ अधिक स्पष्ट रूप से नहीं दी गई हैं।

4. मार्क्स और ऐंजिल्स का वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त बहुत पुराना होने के साथ ही अनेक दोषों से युक्त है। यह कहना बिलकुल भ्रान्तिपूर्ण है कि" समाज का सम्पूर्ण इतिहास वर्ग संघर्ष का ही इतिहास है।" इसका तात्पर्य यह होगा कि सामाजिक जीवन में सहयोग का कोई महत्त्व है ही नहीं; जबकि वास्तव में यह प्रमाणित हो चुका है कि विभिन्न वर्गों में संघर्ष की अपेक्षा सहयोग की भावना अधिक मात्रा में पाई जाती है।

4. थार्सटीन वेबलिन का सिद्धान्त (Theory of Theorstien Veblen) वेबलिन के सिद्धान्त को" प्रौद्योगिक निर्णयवाद' के नाम से जाना जाता है। उनका मत है कि सामाजिक परिवर्तन के लिए प्रौद्योगिक दशाएँ उत्तरदायी हैं। उन्होंने मानवीय विशेषताओं को दो भागों में विभाजित किया है-

   (i) स्थिर विशेषताएँ

   (ii) परिवर्तनशील विशेषताएँ।

   (i) स्थिर विशेषताएँ वे हैं जिनका सम्बन्ध मूल प्रवृत्तियों से है। इसमें बहुत कम परिवर्तन होता है।

   (ii) परिवर्तनशील विशेषताओं में आदतें, विचार तथा मनोवृत्तियाँ आती हैं। वेबलिन महोदय दूसरे प्रकार की विशेषताओं को सामाजिक परिवर्तन से सम्बन्धित बताते हैं।

डॉ. एम. एल. गुप्ता ने वेबलिन के सामजिक परिवर्तन के सिद्धान्त को निम्न शब्दों में स्पष्ट किया है, "मानव अपनी आदतों द्वारा नियन्त्रित होता है; आदतों का निर्माण भौतिक पर्यावरण एवं प्रौद्योगिकी के अनुसार होता है, आदतें ही सामाजिक संस्थाओं का निर्माण करती हैं और सामाजिक ढाँचे का। अतः जब प्रौद्योगिकी एवं भौतिक पर्यावरण में परिवर्तन होता है तो मानव की आदतों, संस्थाओं एवं सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन आता है। सामाजिक संरचना में परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन है।"

वेबलिन के सिद्धान्त की आलोचना-वेबलिन के सिद्धान्त की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की गई है-

1. वेबलिन ने मानव को अपनी आदतों द्वारा नियन्त्रित प्राणी माना है, लेकिन यह सही नहीं है। मानव आदत के बजाय अपने विवेक से अधिक नियन्त्रित होता है।
2. प्रौद्योगिक परिवर्तन से ही सामाजिक परिवर्तन आता है; यह कहना उचित नहीं है क्योंकि कभी-कभी भौतिक पर्यावरण बिल्कुल नहीं बदलता; फिर भी नैतिक, धार्मिक एवं अन्य कारकों के कारण समाज में परिवर्तन आ जाता है।
3. वेबलिन का सिद्धान्त भी उसी प्रकार से एकपक्षीय है जिस प्रकार से अन्य कारकवादियों का निर्धारणवादियों के सिद्धान्त। सामाजिक परिवर्तन किसी एक ही कारक का प्रतिफल न होकर कई कारकों का परिणाम है। यह एक जटिल प्रक्रिया है, जिसे वेबलिन ने अति सरल रूप में प्रस्तुत किया है।

निष्कर्ष-उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि सामाजिक परिवर्तन के सम्बन्ध में अनेक समाजशास्त्रियों ने अपने-अपने भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत किए हैं। ऊपर विवेचना की सुविधा के लिए चक्रीय तथा रेखीय दो वर्गों में विभाजित कर विश्लेषण किया गया है।

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएँ अथवा तरीके (Processes or Modes of Social Change)

जिन प्रक्रियाओं अथवा तरीकों द्वारा समाज में परिवर्तन लाया जाता है अथवा सामाजिक परिवर्तन होता है; उन्हें सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएँ अथवा तरीके कहते हैं। मैकाइवर एवं पेज, हरबर्ट स्पेन्सर, हॉबहाउस, सोरोकिन आदि विद्वानों ने सामाजिक परिवर्तन की विभिन्न प्रक्रियाओं अथवा तरीकों का उल्लेख किया है। इससे अनेक समाजशास्त्रीय अवधारणाओं (Concepts) को जन्म मिला है। सामाजिक परिवर्तन की प्रमुख प्रक्रियाएँ अथवा तरीके निम्न प्रकार हैं-

1. प्रक्रिया (Process) – किसी भी क्रिया का निरन्तर रूप से चलते रहना प्रक्रिया कहलाता है। इस प्रकार परिवर्तन की क्रिया में निरन्तरता का भाव निहित हो, तो वह प्रक्रिया कहलाएगी। मैकाइवर एवं पेज के अनुसार, "एक प्रक्रिया का अर्थ परिस्थिति में पहले से ही मौजूद शक्तियों की क्रियाशीलता के माध्यम से एक निश्चित तरीकों से होने वाले निरन्तर परिवर्तन से है। प्रक्रिया, उत्थान और पतन, प्रत्यक्ष और परोक्ष, किसी भी ओर तथा किसी भी प्रकार की हो सकती है। इस प्रकार प्रक्रिया में परिवर्तन का एक निश्चित क्रम होता है, जिसके द्वार एक अवस्था दूसरी में विलीन हो जाती है; उदाहरण के लिए-जब हम यह कहते हैं कि भारत में संयुक्त परिवार विघटन की प्रक्रिया में हैं, तो हमारा तात्पर्य यह है कि संयुक्त परिवार एकाकी परिवार की दिशा में निरन्तर परिवर्तित हो रहे हैं और संयुक्तता की अवस्था एकाकी अवस्था में विलीन हो रही है। इस प्रकार प्रक्रिया परिवर्तन का एक निश्चित क्रम है; जिसके द्वारा एक अवस्था दूसरी अवस्था में बदल जाती है।
2. उद्विकास (Evolution)-सामाजिक परिवर्तन की एक प्रक्रिया या तरीका उद्विकास है। जब परिवर्तन एक निश्चित दिशा में निरन्तर हो तथा रचना व गुणों में भी परिवर्तन हो, तो उसे हम उद्विकास कहते हैं। इसे हम एक सूत्र द्वारा इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं :

   गुणात्मक परिवर्तन + रचना में परिवर्तन + निरन्तरता + दिशा = उद्विकास।

स्व-प्रगति की जाँच करें :

1. सामाजिक परिवर्तन के वैद्यानिक कारक क्या हैं?
2. जनसंख्या और क्रान्ति के सम्बन्ध में समाजशास्त्री सोरोकिन ने अपनी प्रस्तुक 'Snial and Cultural Mability' में क्या लिखा है?
3. जनसंख्या का समाज की प्रगति और विनाश से सम्बन्ध के बारे में प्रो. गिनी ने क्या कहा है?
4. जर्मन विद्वान स्पेंग्लर ने अपनी पुस्तक "The de-cline of the West' में क्या जिक्र किया है?

उद्विकास में किसी वस्तु के आन्तरिक गुणों में परिवर्तन होता है।

उद्विकास के रूप में सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या करने वालों में हरबर्ट स्पेन्सर प्रमुख हैं; जिन्होंने उद्विकास की अवधारणा डार्विन से ग्रहण की थी। डार्विन ने जीवों के उद्विकास सिद्धान्त को 1859 में अपनी कृति 'The Origin of Species' में प्रस्तुत किया था। उसने कहा था कि जीवों का विकास सरलता से जटिलता की ओर, समानता से असमानता की ओर निरन्तर एवं सुनिश्चित स्तरों में हुआ है। डार्विन के इस सिद्धान्त को स्पेन्सर ने समाज पर लागू किया और कहा कि समाज का उद्विकास भी जीवों की तरह से हुआ है। स्पेन्सर ने सामाजिक उद्विकास के चार स्तरों 1. जंगली अवस्था, 2. पशुचारण अवस्था, 3. कृषि अवस्था एवं 4. औद्योगिक अवस्था आदि का उल्लेख किया।

उसके अनुसार समाज का उद्विकास उपर्युक्त एक अवस्था से दूसरी अवस्था में होता हुआ वर्तमान औद्योगिक अवस्था में पहुँचा है।

3. विकास (Development)-विकास से आशय किसी वस्तु में होने वाले ऐसे परिवर्तन से है जो श्रेष्ठता की ओर होता है। विकास वस्तु की शक्ति में धीरे-धीरे होने वाले परिवर्तन का सूचक है; उदाहरण के लिए-मानव का विकास जब बालक से युवावस्था की तरफ होता है तो उसमें निश्चित शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, नैतिक, भावात्मक अनेक परिवर्तन होते हैं। इसी प्रकार जब कोई समाज पशुचारण अवस्था से औद्योगिक अवस्था में परिवर्तित होता है तो उसे सामाजिक विकास कहेंगे। विकास के लिए कई बार जानबूझकर निश्चित दिशा की ओर परिवर्तन लाए जाते हैं; उदारहण के लिए गाँवों के विकास के लिए सामुदायिक विकास योजनाएँ इसी प्रकार का प्रयत्न हैं। हॉबहाउस ने अपनी पुस्तक 'Social Development में विकास के चार मापदण्डों का उल्लेख किया है-मात्रा में वृद्धि (Increase in Scale), कार्य क्षमता (Efficiency), आपसी सहयोग (Mutuality) तथा स्वतन्त्रता (Freedom)। वे विकास को एक ऐसी प्रक्रिया मानते हैं, जिससे सभी समाज गुजरते हैं। विकास समाज की प्रगति के लिए आवश्यक है।

4. प्रगति (Progress)-प्रगति में वे परिवर्तन लिए जाते हैं, जो समाज के विकास के लिए होते हैं। इस प्रकार अच्छाई की ओर होने वाले परिवर्तनों को प्रगति कहा जाता है। कई विद्वानों ने उद्विकास एवं प्रगति में कोई भेद नहीं किया है, जबकि इन दोनों में पर्याप्त अन्तर है। ऐसे परिवर्तन जो हमारी इच्छाओं एवं लक्ष्यों के अनुरूप हों, प्रगति के नाम से जाने जाते हैं। प्रगति का सम्बन्ध सामाजिक मूल्यों और आदर्शों से है, अर्थात् समाज जिन लक्ष्यों को आदर्श एवं वांछित मानता है; उसी दिशा में होने वाले परिवर्तन प्रगति के अन्तर्गत आएँगे। प्रगति का सम्बन्ध नैतिकता से भी है। समाज जिन कार्यों और उद्देश्यों को नैतिक या अच्छा मानता है; उस ओर परिवर्तन प्रगति कहलाता है। प्रगति की माप सम्भव है। ऑगबर्न एवं निमकॉफ के अनुसार, "प्रगति का अर्थ अच्छाई के लिए परिवर्तन से है और इसीलिए प्रगति में मूल्य-निर्णय होता है।" चूँकि प्रत्येक समाज की नैतिकता, मूल्यों एवं आदर्शों में अन्तर पाया जाता है, अतः प्रगति की अवधारणा भी भिन्न-भिन्न समाजों में अलग-अलग है। एक समाज में जिसे प्रगति कहते हैं, हो सकता है दूसरे समाज में वही अवनति का सूचक हो। उदाहरणार्थ, रूस में जनसंख्या वृद्धि को प्रगति माना गया है, जबकि भारत में अवनति।

5. अनुकूलन (Adaptation)-अनुकूलन भी परिवर्तन की एक प्रक्रिया है। अनुकूलन में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति अथवा उपस्थित परिस्थितियों से समायोजन करने का प्रयत्न करता है। अनुकूलन किस सीमा तक होता है, इस बात को प्रकट करने के लिए कुछ अन्य शब्दों जैसे अभियोजन (adjustment), समायोजन (accommodation), सात्मीकरण (assimilation), एकीकरण

(Inte-gration) आदि का प्रयोग किया जाता है। अनुकूलन की प्रक्रिया में दो बातें विशेष हैं-1. व्यक्ति अपने को परिस्थिति के अनुसार ढाल ले, 2. अथवा व्यक्ति पर्यावरण या परिस्थितियों को अपनी आवश्यकताओं के अनुसार संशोधित कर ले। इस प्रकार अनुकूलन भी एक प्रकार का परिवर्तन है, जो सभी समाजों में पाया जाता है।

6. क्रान्ति (Revolution)-क्रान्ति भी सामाजिक परिवर्तन का महत्त्वपूर्ण तरीका है। क्रान्ति परिवर्तन की तीव्रता एवं आकस्मिकता को प्रकट करती है। इसमें परिवर्तन का क्रम टूट जाता है और यकायक परिवर्तन प्रकट होते हैं। जब किसी समाज में असन्तोष, शोषण, तनाव, अत्याचार आदि की वृद्धि होती है तो क्रान्ति जन्म लेती है। फ्रांस, रूस, चीन, क्यूबा आदि देशों में होने वाली क्रान्ति इसी बात की द्योतक है।

7. वृद्धि (Growth)-वृद्धि भी सामाजिक परिवर्तन का एक तरीका है। यह वस्तु में हुए परिमाणात्मक परिवर्तन को बतलाता है। वृद्धि आकार में होने वाले परिवर्तन को सूचित करती है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि वृद्धि की एक सीमा होती है, उस सीमा के बाद वृद्धि रुक जाती है।

सारांश

"सामाजिक क्रान्ति वह तीव्र परिवर्तन है; जिसमें व्यक्तियों को एक-दूसरे से सम्बन्धित रखने वाली राजनीतिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है और सरकार अस्थायी रूप से एक कार्यशील सत्ता के रूप में नहीं रह पाती। इस दशा में समाज की मौलिक एकता समाप्त हो जाती है एवं सामाजिक व नैतिक मूल्य समाप्त होने लगते हैं। इसमें सामाजिक संरचना को स्थायी रखने वाली औपचारिक मान्यताएँ अस्थायी रूप से नष्ट हो जाती हैं। यदि क्रान्ति में अधिक तीव्रता आती है तो सभी प्रमुख संस्थाएँ काफी परिवर्तित हो जाती हैं। इस प्रकार राज्य, धर्म, परिवार व शिक्षा अपने मूल रूप से काफी बदल जाते हैं।'

सामाजिक क्रान्ति दो प्रकार की हो सकती है-हिंसात्मक एवं अहिंसात्मक। सेना व शक्ति के माध्यम से परिवर्तन जिसमें खून बहाया जाता है; हिंसात्मक क्रान्ति कहलाती है। ऐसी क्रान्ति रूस व चीन में हुई थी। भारत में शान्तिपूर्ण तरीकों से किए जाने वाले परिवर्तन अथवा औद्योगिक क्रान्ति अहिंसात्मक क्रान्ति के उदाहरण हैं। कुछ विद्वान् क्रान्ति को विघटन की श्रेणी में रखते हैं; जबकि कुछ इसे परिवर्तन का सशक्त माध्यम समझते हैं। क्रान्ति प्रायः आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में अधिक तीव्रता से आती है।

स्व-प्रगति की जाँच के उत्तर :

1. वैधानिक कारक-आधुनिक युग में वैधानिक कारक सामाजिक परिवर्तन लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, क्योंकि" सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में कानूनों की प्रमुख भूमिका रही है। कानूनों का ऐतिहासिक विकास, समाज के विकास का सूचक है। भारतीय समाज प्रायः जाति, परम्पराओं तथा सम्बन्ध प्रथाओं द्वारा नियन्त्रित था, परन्तु वर्तमान में यह औपचारिक नियमों के द्वारा नियन्त्रित होता है। इससे व्यक्ति के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन हुआ है तथा जनमत के महत्त्व में भी वृद्धि हुई है। भारत में आधुनिक समय में कानूनी क्रान्ति आ गई है तथा व्यापारिक परिवर्तन होकर अब सम्बन्धों का आधार समझौता हो गया है। कानून नई मान्यताओं व सामाजिक मूल्यों को स्थापित करते हैं। इसके विपरीत कार्य करने वालों के लिए कानून दण्ड की व्यवस्था भी करता है। परन्तु प्रत्येक निर्मित कानून एक सामाजिक शक्ति का रूप नहीं ले पाता है। इसके लिए सभी व्यक्तियों द्वारा उसे स्वीकार कर लिया जाना आवश्यक है। कानून संस्थागत न हो पाए तथा उसका उपयोग नहीं किया जाए तो

धीरे-धीरे लोगों की कानून के प्रति सम्मान की भावना समाप्त हो जाती है।"

2. जनसंख्या और क्रान्ति-कार्ली (Karli) को उद्धृत करते हुए सोरोकिन ने अपनी पुस्तक 'Social and Cultural Mobility' में लिखा है कि "जिस अवधि में जनसंख्या में अधिक परिवर्तन हो रहे होते हैं; उसी अवधि में व्यक्तियों में मानसिक अस्थिरता भी सबसे अधिक होती है। यही अस्थिरता क्रान्ति और आन्तरिक संकटों का कारण है। जनसंख्या में अधिक ह्रास या वृद्धि होने से समाज के विभिन्न वर्गों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति में भी उतार-चढ़ाव होता है। इस प्रक्रिया में निम्न वर्ग के व्यक्तियों को उच्च वर्ग में जाने से रोकने के जितने अधि क प्रयत्न किए जाते हैं; क्रान्ति की संभावना उतनी ही अधिक हो जाती है।"

3. जनसंख्या का समाज की प्रगति और विनाश से सम्बन्ध प्रो. गिनी (Gini) ने समाज के उद्विकास को एक चक्रीय प्रक्रिया के द्वारा स्पष्ट किया है; जिसमें जनसंख्यात्मक कारकों के कारण विनाश और विकास की स्थिति उत्पन्न होती रहती है। उनका मत है कि विकास के प्रथम चरण में जनसंख्या के आकार और घनत्व में वृद्धि होती है; जिसके कारण सामाजिक विभेदीकरण बढ़ना आरंभ हो जाता है। इसके साथ ही विभिन्न स्थानों पर जनसंख्या के आकार में इतनी अधिक वृद्धि हो जाती है कि अतिरिक्त व्यक्त्यिों को या तो स्थान बदलना जरूरी हो जाता है अथवा युद्धि की प्रवृत्ति बढ़ने लगती है। इस स्थिति में समाज के अधिक शक्तिशाली, उत्साही और अनुभवी व्यक्ति ऐसे स्थानों को छोड़कर सैन्य शक्ति को संगठित करने लगते हैं।

4. स्पेंग्लर का सिद्धान्त (Theory of Spengler)-जर्मन विद्वान स्पेंग्लर ने अपनी पुस्तक 'The decline of the West' में कहा है कि सामाजिक परिवर्तन का एक चक्र चलता है, हम जहाँ से प्रारम्भ होते हैं, पुनः वहीं पहुँच जाते हैं। उन्होंने विश्व की आठ समस्याओं की विवेचना करते हुए, उनके उत्थान-पतन को दिखाया है। उनका कहना है कि संस्कृतियाँ तान्त्रिक व्यवस्थाएँ हैं और वे उत्पन्न होकर विकसित होती हैं और चरम विकास के बाद पतन को प्राप्त हो जाती हैं।

अभ्यास-प्रश्न

1. सामाजिक परिवर्तन की परिभाषा देते हुए इसकी विशेषताओं एवं प्रतिमानों की विवेचना कीजिए।
2. सामाजिक परिवर्तन के प्रमुख कारकों का वर्णन कीजिए।
3. जनसंख्या तथा सामाजिक परिवर्तन में क्या सम्बन्ध है? स्पष्ट करें।
4. सांस्कृतिक विलम्बना से आपका क्या अभिप्राय है? इसके कारण तथा परिणामों को स्पष्ट करें।
5. सामाजिक परिवर्तन के प्रमुख सिद्धान्तों की विवेचना करें।
6. सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं एवं तरीकों पर विस्तृत टिप्पणी लिखें।

ekMîy&5

व्यावहारिक समाजशास्त्र का परिचय: समाजशास्त्र और सामाजिक समस्याएँ (Introduction to Applied Sociology, Sociology; and Social Problems)

इस अध्याय के अन्तर्गत :

- व्यावहारिक समाजशास्त्र का अर्थ, उद्देश्य और इसके योगदान
- सामाजिक समस्या के तत्व एवं इसकी विशेषताएँ
- सामाजिक समस्याओं के प्रकार, इसके कारण इसके समाधान और समाधान में बाधाएँ
- सामाजिक समस्याओं के वैज्ञानिक अध्ययन
- सामाजिक परिवर्तन की दिशा तथा सामाजिक समस्याएँ
- सामाजिक समस्याएँ, वैज्ञानिक और मानविकी परिप्रेक्ष्य

अध्याय के उद्देश्य :

- इस अध्याय के अध्ययन के उपरांत आप जान सकेंगे :
- व्यावहारिक समाजशास्त्र का अर्थ, उद्देश्य और इसके योगदान के विषय-वस्तु
- सामाजिक समस्याओं के प्रकार, इसके कारण इसके समाधान और समाधान में आने वाली बाधाएँ के बारे में
- सामाजिक समस्याओं के वैज्ञानिक अध्ययन
- सामाजिक परिवर्तन की दिशा तथा सामाजिक समस्याएँ
- सामाजिक समस्याएँ, वैज्ञानिक और मानविकी परिप्रेक्ष्य भी भली भाँति समझ सकेंगे

bdkÃ&13 0;kogkfjd lekt'kkL=dk vFk] mís';] lkekftd leL;k dk rRo] dkj.k] lek/kku] ck/kk,¡] lkekftd leL;kvk dk oLkfud v/;;u

व्यावहारिक समाजशास्त्र के परिचय और विषय प्रवेश के लिए आवश्यक है कि सर्वप्रथम हम समाजशास्त्र के प्रमुख प्रकारों पर एक दृष्टि डालें। अध्ययन के उद्देश्य, दृष्टिकोण और उपयोगिता के आधार पर वैज्ञानिकों ने समाजशास्त्र को दो प्रमुख प्रकारों में विभाजित किया है। ये हैं-1. विशुद्ध समाजशास्त्र और 2. व्यावहारिक समाजशास्त्र। विशुद्ध समाजशास्त्र का उद्देश्य सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक अव्यवस्था और उनमें होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन करके सिद्धान्तों का निर्माण करना है। विशुद्ध समाजशास्त्र का उद्देश्य ज्ञान एवं विद्यमान लक्ष्यों एवं विद्यमान ज्ञान के भण्डार की वृद्धि करना है। विशुद्ध समाजशास्त्र का उद्देश्य किन्हीं समस्याओं का अध्ययन करना तथा समाधान प्रस्तुत करना नहीं है, समाज की समस्याओं का अध्ययन करना तथा समाधान प्रस्तुत करना समाजशास्त्र के दूसरे प्रकार-व्यावहारिक समाजशास्त्र का सर्वोपरि उद्देश्य होता है।

व्यावहारिक समाजशास्त्र समाज की अनेक व्यावहारिक समस्याओं के समाधान में योगदान देता है। समाजशास्त्र के विकास के लिए व्यावहारिक समाजशास्त्र और इसके अन्तर्गत किए गए अनुसंधान आवश्यक हैं। यह शास्त्र समाज की संरचना और उसके कार्यों का वर्णन और व्याख्या करता है। इसके अनेक लक्षण, कार्य, उद्देश्य एवं महत्त्व हैं; जिनकी विवेचना इसके अर्थ को समझाने के बाद करेंगे।

व्यावहारिक समाजशास्त्र का अर्थ (Meaning of Applied Sociology)

जब समाजशास्त्र का उद्देश्य ऐसे ज्ञान की खोज के लिए किया जाता है जो व्यावहारिक समस्याओं के समाधान के लिए उपयोगी हो तो उसे व्यावहारिक समाजशास्त्र कहते हैं।

व्यावहारिक समाजशास्त्र का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य समाज की समस्याओं के समाधानों को ज्ञात करना है। इस समाजशास्त्र का परिप्रेक्ष्य या दृष्टिकोण मानविकी होता है। इसीलिए व्यावहारिक समाजशास्त्र का सीधा सम्बन्ध समाज की विभिन्न समस्याओं, कल्याणकारी योजनाओं, नीति-निर्माण तथा व्यावहारिक उपयोगिता से होता है।

व्यावहारिक समाजशास्त्री यह मानकर चलता है कि समस्त ज्ञान मूलतः उपयोगी है, चाहे उसका उपयोग निष्कर्ष निकालने में हो अथवा किसी क्रिया या व्यवहार को कार्यान्वित करने में हो। व्यावहारिक समाजशास्त्र का उपयोग सिद्धान्त के निर्माण में करके ज्ञान को व्यवहार में लाने में का कार्य किया जाता है। इस शास्त्र में सिद्धान्त और व्यवहार सामान्यतया आगे चलकर एक-दूसरे में विलीन हो जाते हैं। व्यावहारिक समाजशास्त्र में अन्वेषण करवाने वाली संस्थाओं तथा संगठनों द्वारा प्रस्तुत की गई समस्याओं से सम्बन्धित ऐसी अन्वेषण क्रियाएँ आती हैं, जो समाज की विभिन्न समस्याओं के समाधान में योगदान करती हैं।

व्यावहारिक समाजशास्त्र विशुद्ध समाजशास्त्र में किए गए अनुसंधान द्वारा प्राप्त ज्ञान के आधार पर समाज को नियंत्रित करता है और समस्याओं का समाधान करता है। इस समाजशास्त्र का उद्देश्य समाज में व्याप्त संघर्षों का अध्ययन करना, उनकी प्रकृति तथा कारणों को ज्ञात करना तथा संघर्षों को दूर करने के लिए उपयुक्त समाधान प्रस्तुत करना होता है। व्यावहारिक समाजशास्त्र का परिप्रेक्ष्य मानवतावादी और उपयोगितावादी होता है। यह उपलब्ध ज्ञान का अधिकतम उपयोग समाज की विभिन्न समस्याओं के समाध न में सीधा करता है। इस व्यावहारिक समाजशास्त्र का उद्देश्य सामाजिक नियोजन, नीति-निर्धारण, सामाजिक समस्याओं, व्याधिकीय लक्षणों आदि का अध्ययन, वर्णन और व्याख्या करने में एवं समझने में सहायता प्रदान करना होता है। इस शास्त्र का कार्य व्यावहारिक और उपयोगी सुझाव देना है; जिनको कार्यान्वित करके समाज की समस्याओं को हल किया जाता

व्यावहारिक समाजशास्त्र के उद्देश्य (Aims of Applied Sociology)

व्यावहारिक समाजशास्त्र परिवर्तनशील मानव समाज की समस्याओं का अध्ययन समय-समय पर करता है तथा तथ्य एकत्र करके अद्यतन जानकारी देता है। प्रमुखतः व्यावहारिक समाजशास्त्र के निम्नांकित उद्देश्य निश्चित किए जा सकते हैं-

1. ज्ञान का विकास (Development of Knowledge)-व्यावहारिक समाजशास्त्र का प्रमुख उद्देश्य समाजशास्त्रीय ज्ञान का विकास करना है। यह क्षेत्रीय अध्ययन करके सामाजिक घटनाओं, सामाजिक समस्याओं, सामाजिक परिवर्तन आदि को समझने का प्रयास करता है तथा इन विषयों के समबन्ध में ज्ञान का विकास करता है। व्यावहारिक समाजशास्त्र विशुद्ध शोधों के द्वारा प्रतिपादित नियमों एवं सिद्धान्तों का आनुभाविक तथ्यों द्वारा परीक्षण करता है एवं उनकी सत्यता, प्रामाणिकता और विश्वसनीयता की जाँच करता है। इतना ही नहीं यह शास्त्र संचयी ज्ञान के आधार पर आगे परीक्षण करता है और नवीन तथ्यों की खोज करता है।

2. तथ्यों का प्रकार्यात्मक अध्ययन (Functional Study of Facts) व्यावहारिक समाजशास्त्र का उद्देश्य सिद्धान्त से सम्बन्धित तथ्यों का परस्पर एक-दूसरे के साथ कारण प्रभाव सम्बन्धों का आनुभविकता के आधार पर ज्ञात करना है। एक कारक का अन्य कारकों से, अन्य कारकों का एक कारक से एवं कारकों का परस्पर क्या गुण सम्बन्ध है; इनका अध्ययन व्यावहारिक समाजशास्त्र करता है। इतना ही नहीं व्यावहारिक समाजशास्त्र सामाजिक संगठन (संरचना और कार्य) सामाजिक व्यवस्था आदि के विभिन्न लक्षणों, तत्त्वों और कारकों का अध्ययन करके उनके गुण-दोषों की खोज करता है और उनकी व्याख्या करता है।

3. सिद्धान्तों की खोज (Discovery of Theory)-सिद्धान्तों के अनेक प्रकार होते हैं; जैसे-विश्लेषणात्मक, मानकात्मक, तात्त्विक, वैज्ञानिक आदि। वैज्ञानिक सिद्धान्त में कारणता, आनुभविकता, प्रयोग, सिद्धान्त और सार्वभौमिकता के गुण होते हैं। व्यावहारिक समाजशास्त्र का प्रमुख उद्देश्य समाजशास्त्रीय वैज्ञानिक सिद्धान्तों का निर्माण करना है। यह नए-नए वैज्ञानिक सिद्धान्तों की खोज करता है। इस शोध कार्य द्वारा प्रतिपादित समाजशास्त्रीय सिद्धान्त वैज्ञानिक होते हैं। इसके द्वारा निर्मित सिद्धान्तों की सहायता से सामाजिक समस्याओं, घटनाओं आदि का पूर्व में अनुमान लगाना सुगम हो जाता है।

4. अवधारणाओं का विकास (Development of Concepts) व्यावहारिक समाजशास्त्र का उद्देश्य अवधारणाओं की व्याख्या स्पष्टीकरण, संशोधन, संक्षिप्तीकरण आदि करना भी है। अवध ारणाएँ तथ्यों की व्याख्या करती हैं और व्यावहारिक समाजशास्त्र नए-नए तथ्य एकत्र करता है; जिनका प्रभाव विद्यमान अवधारणाओं पर पड़ता है। नवीन तथ्यों के सन्दर्भ में अवधारणाओं के अर्थ भी बदल जाते हैं, जिसके कारण व्यावहारिक समाजशास्त्र अवधारणाओं के अर्थ में संशोधन करता है, उनकी पुन: परिभाषा देता है, उन्हें अद्यतन करता है। इस प्रकार से व्यावहारिक समाजशास्त्र का उद्देश्य पुरानी अवधारणाओं की पुनः व्याख्या करना, स्पष्टीकरण करना, सुनिश्चित करना, परिष्कृत करना तथा नई अवधारणाओं का निर्माण करना है।

5. व्यावहारिक समाजशास्त्र की उपयोगिता (Utility of Applied Sociology)-सामाजिक वैज्ञानिकों का कहना है कि व्यावहारिक विज्ञानों का महत्त्व तभी बढ़ सकता है जब वे अपने अध्ययनों, खोजों, अनुसंधानों द्वारा व्यावहारिक पक्ष को प्रभावशाली बनाएँ। इसी संदर्भ में व्यावहारिक समाजशास्त्र की प्रमुख उपयोगिताएँ निम्नलिखित निश्चित की जा सकती हैं-

(i) व्यावहारिक समाजशास्त्र समाज के लिए अनेक प्रकार से उपयोगी है। व्यावहारिक समाजशास्त्र समाज की समस्याओं का अध्ययन करता है, ताकि इसके सुझावों के द्वारा समस्याओं का समाध न किया जाता है।

(ii) व्यावहारिक समाजशास्त्र समाज का वास्तविक और व्यवहारों का अध्ययन करता है। यह सामाजिक जीवन से सम्बन्धित यथार्थ और आनुभविक सूचनाओं को एकत्र करके समाजशास्त्र के ज्ञान का विकास करता है।

(iii) यह शास्त्र कारकों के कारण-प्रभाव सम्बन्धों का अध्ययन करके बताता है कि कौन-से तथ्य समाज के लिए संगठनात्मक हैं और कौन-से तथ्य विघटनात्मक हैं।

व्यावहारिक समाजशास्त्र अनुसन्धान के क्षेत्र में ऐसी प्रविधियों का विकास करता है जो विशुद्ध समाजशास्त्र के अनुसन्धान के लिए भी उपयोगी होते हैं।

यह शास्त्र "क्या है?", "क्यों है?", "कैसे है?", "क्या होगा?" का ही अध्ययन नहीं करता है बल्कि "क्या होना चाहिए?" की भी व्याख्या करता है।

व्यावहारिक समाजशास्त्र का योगदान (Contribution of applied Sociology)-समाजशास्त्र मानव समाज की व्यवस्था, अव्यवस्था और उसमें होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन अनेक प्रकारों से करता है। विभिन्न समाजशास्त्रियों ने समाज का अध्ययन उनमें विद्यमान समानता, असमानता, सहयोग-संघर्ष, व्यवस्था-अव्यवस्था, सन्तुलन-असन्तुलन, संगठन-विघटन आदि के आधार पर किया है। इसी प्रकार से समाज में विद्यमान विभिन्न सामाजिक समस्याओं के अध्ययन द्वारा भी समाज को समझा जा सकता है। अगर समाज में सामजिक समस्याएँ न्यून हैं, तब तो समाज को व्यवस्थित एवं संगठित माना जाएगा और यदि समस्याएँ अनेक हैं तो उस समाज को विघटित कहा जाएगा। समाज में समस्याएँ तब उत्पन्न होती हैं, जब व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं का चयन एवं उनकी पूर्ति समाज द्वारा स्थापित मानदण्डों के अनुसार नहीं करते हैं। समाज के विकास और प्रगति के लिए आवश्यक है कि व्यावहारिक समाजशास्त्र सामाजिक समस्याओं और उनकी अवधारणाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करे तथा उनके निवारण की योजनाएँ प्रस्तुत करे।

वर्तमान में समाज की अनेक सामाजिक समस्याएँ हैं। समाज के विकास एवं प्रगति की योजनाओं को बनाने के लिए भी आवश्यक है कि इसकी सभी समस्याओं का क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित ज्ञान उपलब्ध हो। यह कार्य समाजशास्त्र के द्वारा समय-समय पर सामाजिक समस्याओं के अध्ययन द्वारा किया जाता रहा है।

अधिकतर समाजों की प्रमुख समस्याएँ अपराध तथा बाल अपराध, जनसंख्या का विस्फोट, निर्धनता, असमानता, बेरोजगारी, अशिक्षा, श्रमिक, एवं विद्यार्थी असन्तोष, कमजोर एवं दलित जातियाँ, जनजातियाँ, मजदूरों आदि की समस्याएँ, भ्रष्टाचार, नशाखोरी, एड्स आदि हैं। इनका अध्ययन करने से पहले यह आवश्यक है कि हम सामाजिक समस्याओं की अवधारणा के समाजशास्त्रीय अर्थ को समझें।

सामाजिक समस्या का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Social Problem) सामाजिक समस्या की परिभाषा अनेक विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण तथा रुचि के आधार पर निम्नांकित दी हैं-

पाल एच. लैंडिस (Paul H. Landis) ने लिखा है, "सामाजिक समस्याएँ व्यक्ति की कल्याणकारी अपूर्ण आकांक्षाएँ हैं।"

रॉब तथा सेल्जनिक (Roab Earl and GJ. Selznick) ने कहा है,"यह मानवीय सम्बन्धों की एक समस्या है; जो समाज के लिए एक गम्भीर खतरा है अथवा जो अनेक व्यक्तियों की आकांक्षाओं की पूर्ति में बाधाएँ पैदा करती हैं।

वेलेस वीवर (W. Wallace Weaver) के मतानुसार, "सामाजिक समस्या एक ऐसी स्थिति है; जो चिन्ता, तनाव, संघर्ष या नैराश्य पैदा करती है और एक आवश्यकता की पूर्ति में बाधा डालती है।"

फुलर तथा मायर्स (R. C. Fuller and R. Mayers) के अनुसार, "व्यवहार के जिन प्रतिमानों या परिस्थितियों को किसी समय समाज के बहुत से सदस्य आपत्तिजनक या अनपेक्षित मानते हों; वे ही सामाजिक समस्याएँ हैं।"

शेपर्ड तथा वॉस (Shepard and Voss) की मान्यता है, "एक सामाजिक समस्या समाज की कोई भी ऐसी सामाजिक दशा है; जिसे समाज के एक बहुत बड़े भाग या शक्तिशाली भाग द्वारा अनपेक्षित और ध्यान देने लायक समझा जाता है।"

वाल्स और फर्फे (M. F. Walsh and P. H. Furfey) का कहना है, "सामाजिक समस्या सामाजिक आदर्शों का विचलन है; जिसका समाधान सामूहिक प्रयासों से ही सम्भव है।

मर्टन और निस्बट (Merton and Nisbet) के अनुसार, "सामाजिक समस्या व्यवहार का एक ऐसा रूप है; जिसे समाज का एक बड़ा भाग व्यापक रूप से स्वीकृत तथा अनुमोदित मानदण्डों का उल्लंघन मानता है।"

उपर्युक्त विभिन्न विद्वानों की परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि सामाजिक समस्या एक व्यापक समाजशास्त्रीय अवधारणा है; जिसके द्वारा सामाजिक अव्यवस्था में वृद्धि होती है। यह समाज विरोधी होती है। यह एक समाज में तनाव एवं संघर्ष पैदा करती है। सामाजिक समस्या समाज के आदर्शों तथा अपेक्षित व्यवहारों का उल्लंघन

सामाजिक समस्या के तत्व एवं विशेषताएँ
(Elements and Charactristics of Social Problem)

विद्वानों द्वरा दी गई परिभाषाओं एवं विचारों के आधार पर सामाजिक समस्या के निम्नलिखित मुख्य तत्त्व एवं विशेषताएँ निश्चित की जा सकती हैं

1. सभी सामाजिक समस्याएँ मूल रूप में सामाजिक होती हैं।
2. सामाजिक समस्याएँ सामाजिक आदर्शों से विचलन होती हैं।
3. समाज के अधिकतर सदस्य इसे आपत्तिजनक मानते हैं।
4. ये व्यक्ति की कल्याणकारी अपूर्ण आकांक्षाओं का परिणाम होती हैं।
5. ये व्यक्तियों की आकांक्षाओं की पूर्ति में बाधक होती हैं।
6. सामाजिक समस्याएँ चिन्ता, तनाव, संघर्ष आदि पैदा करती हैं।
7. ये गतिहीनता उत्पन्न करती हैं; जिससे समाज के सदस्य अपेक्षित सामाजिक भूमिकाएँ पूर्ण नहीं कर पाते हैं।
8. समाज के अधिकतर लोग इससे प्रभावित होते हैं।

9. इसका समाधान सामाजिक प्रयत्नों से किया जाता है।
10. इसके निवारण के लिए सुधार नीतियों, कार्यक्रमों तथा सेवाओं की आवश्यकता होती है।
11. ये समाज के लिए गम्भीर खतरा होती हैं।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि सामाजिक समस्याएँ सामाजिक आदर्शों का विचलन होती हैं; जो व्यक्ति की कल्याणकारी अपूर्ण आकांक्षाओं का परिणाम होती हैं। समाज के अधिकतर सदस्य इनसे प्रभावित रहते हैं। ये आपत्तिजनक होती हैं। इनके द्वारा समाज में गतिहीनता उत्पन्न होती है, जो समाज के लिए एक गम्भीर खतरा होती है। सामाजिक समस्याएँ समाज में चिन्ता, तनाव, संघर्ष आदि पैदा करती हैं। इनका समाधान सामाजिक प्रयत्नों; जैसे-सुधार नीतियों, कार्यक्रमों तथा सेवाओं द्वारा किया जाता है। इनसे समाज में एकता, व्यवस्था, सुदृढ़ता आदि पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

सामाजिक समस्याओं के प्रकार (Types of Social Problem) -जोन जे. केन ने सोशियल प्रोब्लम्स में सामाजिक समस्या के दो प्रकार बताए हैं-1. प्रकट सामाजिक समस्या और 2. अप्रकट (गुप्त) सामाजिक समस्या। इनकी व्याख्या निम्नलिखित हैं-

1. प्रकट सामाजिक समस्या (Overt Social Problems) प्रकट या प्रत्यक्ष सामाजिक समस्याएँ समाज की वे समस्याएँ होती हैं; जिनके समाधान तथा निराकरण के लिए राज्य सरकार अथवा-और निजी अभिकरण (एजेन्सी) मिलकर प्रयास करते हैं। लोग भी इन समस्याओं के प्रति सजग होते हैं। वे इसे समाज के लिए हानिकारक भी मानते हैं। निर्धनता, बेरोजगारी, जनसंख्या में वृद्धि, अपराध बाल-अपराध आदि प्रकट सामाजिक समस्याओं के उदाहरण हैं।
2. अप्रकट सामाजिक समस्या (Covert Social Problem) अप्रकट सामाजिक समस्या उसे कहते हैं; जिसके प्रति सरकार, निजी संस्थाएँ तथा लोग जागरूक नहीं होते हैं तथा उनके निराकरण के लिए सामूहिक प्रयास नहीं किया जाता है। लेकिन जैसे ही इन समस्याओं के प्रति जागरूकता आ जाती है तथा समाधान के लिए सामूहिक प्रयास किया जाता है तो ये प्रकट सामाजिक समस्याएँ बन जाती हैं। ऐसी अनेक समस्याएँ हैं; जो अप्रकट से प्रकट सामाजिक समस्याओं के वर्ग में चली गई हैं; जैसे-अस्पृश्यता, बाल-विवाह, सती-प्रथा, विधवा पुनर्विवाह आदि सदियों से अप्रकट सामाजिक समस्याएँ थीं परन्तु बाद में उनके निराकरण के लिए सरकार तथा निजी संगठनों; जैसे ब्रह्म समाज, आर्य समाज आदि ने सामूहिक प्रयास किए तो जनता में इनके प्रति जागरूकता पैदा हो गई।

सामाजिक समस्याओं के कारण (Cause of Social Problems)

सामाजिक समस्याओं के अनेक कारण हैं। विभिन्न विद्वानों ने सामाजिक समस्याओं के कारणों पर अपने विचार प्रकट किए हैं; जो निम्नलिखित हैं-

1. रॉब और सेल्जनिक ने ''मेजर सोशियल प्रोब्लम्स' में सामाजिक समस्याओं के निम्नलिखित पाँच कारण बताए हैं-
    1. जब संगठित समाज के लोगों की पारस्परिक सम्बन्धों को व्यवस्थित करने की क्षमता समाप्त होती दिखाई देती है, तो सामाजिक समस्या उत्पन्न होती है।

2. जब समाज की अनेक संस्थाएँ विचलित होने लगती हैं तो सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होने लगती हैं।
3. जब समाज के कानूनों को लोग तोड़ते हैं तथा उनका पालन नहीं करते हैं; तब सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।
4. जब समाज के मूल्यों का हस्तान्तरण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को होना बन्द हो जाता है; तब सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होने लगती हैं।

   जब समाज के सामान्य सदस्यों की आकांक्षाओं तथा अपेक्षाओं की संरचना बिगड़ने लगती है; तब सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।

2. **रॉबर्ट ए. निस्बेत** ने सामाजिक समस्या की उत्पत्ति के निम्न चार कारण बताए

1. संस्थाओं में संघर्ष सामाजिक समस्याओं को जन्म देते हैं।
2. सामाजिक गतिशीलता के कारण सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।
3. व्यक्तिवादिता सामाजिक समस्या का प्रमुख कारण
4. व्याधिकीय स्थिति सामाजिक समस्याओं को जन्म देती है।

3. **पॉल लैंडिस के अनुसार सामाजिक समस्या के निम्नलिखित चार कारण हैं-**

1. व्यक्ति का समायोजन करने में असफल होना।
2. सामाजिक संरचना का दोषपूर्ण होना।
3. संस्थात्मक समायोजन में असफल होना।
4. सामाजिक नीतियों में संस्थात्मक विलम्बन का होना।

उपर्युक्त वैज्ञानिकों द्वारा व्यक्त किए गए सामाजिक समस्याओं के कारणों से स्पष्ट होता है कि सामाजिक समस्याओं को मनोविकारी, विकृत और व्याधिकीय सामाजिक एवं व्यक्तिगत परिस्थितियाँ जन्म देती हैं। ये ऐसी विकृत परिस्थितियाँ आदिम, ग्रामीण, कस्बाई, नगरीय और महानगरीय सभी छोटे-बड़े समाजों में पैदा होती हैं। जो समाज आकार में छोटे होते हैं, जिनमें यान्त्रिक एकता होती है तथा परिवर्तन की गति

धीमी होती है, उनमें सामाजिक समस्याएँ कम होती हैं, लेकिन जो समाज आकार में बड़े होते हैं, जिनमें सावयवी एकता होती है तथा परिवर्तन की गति तीव्र होती है, उनमें सामाजिक समस्याएँ अधिक होती हैं।

भिन्न-भिन्न समाजों तथा उनकी सामाजिक समस्याओं के कारणात्मक कारक भी भिन्न-भिन्न होते हैं। सभी समाजों में तथा सभी समस्याओं के कारण एक-से कभी नहीं होते हैं। सामाजिक समस्याओं को समझने के बाद उनके समाधान पर विचार करना आवश्यक है; जिनकी विवेचना निम्नलिखित पृष्ठों में की जा रही है-

सामाजिक समस्याओं का समाधान (Solutions of Social Problems)

मानव एक ऐसा प्राणी है; जो निरन्तर समस्याओं का समाधान खोजता रहता है। सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए मानव समाज तथा विद्वानों द्वारा खोज करना कोई नई बात नहीं है। सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए निम्नलिखित तीन दृष्टिकोण महत्त्वपूर्ण हैं-

1. बहुकारकवादी दृष्टिकोण (Multiple-factor Approach) समाज एक जटिल व्यवस्था है। सामाजिक समस्या अनेक कारणों के सम्मिलित प्रभावों का परिणाम होती है। जाति-व्यवस्था से सम्बन्धित किसी भी सामाजिक समस्या को ले लीजिए, उसका कोई एक कारण निश्चित करना बहुत कठिन है। उदाहरण के रूप में अस्पृश्यता की समस्या के अनेक कारण हैं; जैसे-धार्मिक कर्म का सिद्धान्त, निर्धनता, पिछड़ापन, अन्धविश्वास, अशिक्षा, राजनैतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक आदि-आदि। इसी प्रकार बेरोजगारी, निर्धनता, दहेज, बाल विवाह, भिक्षावृत्ति, भाषावाद आदि सामाजिक समस्याओं के अनेक कारण हैं। इसीलिए किसी भी सामाजिक समस्या से सम्बन्धित दृष्टिकोण बहुकारकों के सिद्धान्त पर आधारित होना चाहिए तभी समस्या से सम्बन्धित पूर्ण, क्रमबद्ध, व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक जानकारी प्राप्त हो सकेगी। इसी को बहुकारकवादी दृष्टिकोण कहते हैं।

2. पारस्परिक सम्बद्धता (Inter-relatedness) सामाजिक समस्याएँ सामाजिक व्यवस्था और संगठन का अंग होती हैं। समस्याओं के अनेक कारण होते हैं जो परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्धित तथा अन्योन्याश्रित होते हैं। कोई एक सामाजिक समस्या अलग-थलग तथा स्वतन्त्र रूप से विद्यमान नहीं होती वह तो अनेक सामाजिक समस्याओं का परिणाम होती है। इसलिए किसी भी सामाजिक समस्या के निराकरण के लिए अनेक परस्पर सम्बन्धित कारकों तथ कारणों का अध्ययन तथा समाध न खोज निकालना आवश्यक हो जाता है जो निम्न उदाहरण से और स्पष्ट हो जाएगा-बेकारी की सामाजिक समस्या के कारण-जनसख्या वृद्धि, दोषपूर्ण शिक्षा, कुटीर एवं लघु उद्योग-धन्धों का विनाश, भौगोलिक गतिहीनता, नौकरी की प्रतिष्ठा आदि हैं, जो परस्पर सम्बन्धित भी हैं। बेकारी की समस्या का निराकरण भी इन सभी कारणों तथा इनसे सम्बन्धित समस्याओं के साथ-साथ निराकरण से ही हो सकता है। जनसख्या वृद्धि को रोकने के लिए परिवार कल्याण कार्यक्रम को तेज करना होगा। इसके लिए शिक्षा का प्रसार करना होगा। शिक्षा को व्यावसायिक आधार देना होगा। भौगोलिक गतिशीलता की वृद्धि के लिए यातायात तथा संचार के साधनों का विकास करना होगा। इस प्रकार सामाजिक समस्या अन्य बहुत सी समस्याओं से सम्बन्धित समस्या है; जिसे हल करने में उनका ध्यान रखना आवश्यक है।

3. सापेक्षता (Relativity)-सामाजिक समस्याएँ समाज तथा स्थान सापेक्ष होती हैं; जिससे तात्पर्य है कि एक समाज में एक समय विशेष में एक क्रिया सामाजिक समस्या हो सकती है, परन्तु उसी समाज में दूसरे काल में वह मान्य क्रिया हो सकती है; जैसे-व्यवसायों पर प्रतिबन्ध जाति व्यवस्था के अन्तर्गत प्राचीन काल में प्रथा थी। कोई परम्परागत व्यवसाय छोड़कर अन्य व्यवसाय नहीं कर सकता था। अस्पृश्यता पहले सामाजिक मूल्य था, अब एक समस्या है। स्थान सापेक्षता से तात्पर्य है कि एक स्थान में वह सामाजिक समस्या है तथा तथा दूसरे समाज में नहीं है; जैसे-प्रजातीय संघर्ष की समस्या अफ्रीका तथा अमेरिका में उग्र रूप में है, भारत में नहीं है। जनसंख्या वृद्धि भारत में जटिल समस्या है, चीन में नहीं है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सामाजिक समस्याओं के निराकरण में समय तथा स्थान सापेक्षता का भी ध्यान रखना आवश्यक है।

सामाजिक समस्याओं के निराकरण में बाधाएँ
(Difficulties in Removing Social Problems)

सामाजिक समस्याओं के निराकरण में जो बाधाएँ आती हैं; वे जॉनसन के अनुसार निम्नलिखित तीन हैं-

1. शक्तिशाली भावनाओं तथा निहित स्वार्थों का समर्थन-जॉनसन ने लिखा है कि अनेक समस्याओं के

समाधान में शक्तिशाली मनोभाव और निहित स्वार्थों के कारण लोग सामाजिक संरचना को समर्थन देते हैं; जिसे बदले बिना समस्याओं का समाधान करना कठिन कार्य होता है। कुछ स्वार्थी लोग समस्या को हल करने का केवल दिखावा करते हैं, अन्दर से चाहते हैं कि समस्या बनी रहे, क्योंकि समस्या के बने रहने से उनके स्वार्थ पूर्ण होते रहते हैं। भारतवर्ष में आवास की समस्या, अशिक्षा, निर्धनता, भ्रष्टाचार आदि इसके उदाहरण हैं।

2. सुझावों को हानिकारक बताना जब सामाजिक समस्याओं को हल करने के लिए सुझाव दिए जाते हैं तो प्रभावशाली लोग उन सुझावों को हानिकारक बताकर पास नहीं होने देते हैं। सन् 1969 में भारत में बैंकों का जब राष्ट्रीयकरण करने की बात आई तो पूँजीपतियों ने उसका विरोध किया था। राष्ट्रीयकरण इसलिए किया गया; जिससे विकास कार्यों के लिए अधिक पूँजी उपलब्ध हो सके तथा निर्धनता को दूर किया जा सके। पूँजीपति ऐसा होने देना नहीं चाहते थे।

3. कार्य की धीमी गति-सामाजिक समस्याओं के निराकरण के लिए जो योजनाएँ बनाई जाती हैं; उनको बहुत धीमी गति से कार्यान्वित किया जाता है जिससे उसके परिणाम कई वर्षों में भी देखने को मुश्किल से ही मिलते हैं। अनेक अधिनियम सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए बनाए गए हैं, परन्तु उन्हें व्यवहार में लाने में काफी समय लगाया जा रहा है; जैसे-बाल विवाह निरोध क अधिनियम, दहेज प्रथा निरोधक अधिनियम, विवाह विच्छेद अधिनियम आदि।

   कुछ प्रभावशाली लोग अपने स्वार्थवश समस्याओं के निराकरण की योजनाओं, साधनों आदि का विरोध करते हैं। ऐसा सोचना भी गलत है कि यह विरोध हमेशा स्वार्थवश ही हो। कभी-कभी निस्वार्थ विरोध भी हो सकता है, जो वास्तव में सही भी हो। इसलिए विरोधों का भी मूल्यांकन निष्पक्ष रूप से करना चाहिए।

सामाजिक समस्याओं का वैज्ञानिक अध्ययन (Scientific Study of Social Problems)

सामाजिक समस्याओं का निराकरण करने से पहले उनका वैज्ञानिक अध्ययन करना चाहिए। समस्या से सम्बन्धित सही कारणों को ज्ञात करना चाहिए, समस्या से सम्बन्धित तथ्यों को एकत्र करना चाहिए, उनका वर्गीकरण और सारणीयन तथा विश्लेषण करना चाहिए, उसके बाद समाधान से सम्बन्धित वास्तविक कार्य करना चाहिए।

वाल्श तथा फर्फे ने सामाजिक समस्याओं के निराकरण के सम्बन्ध में सुझाव दिया है कि प्रत्येक समस्या के निराकरण के लिए अवलोकन, विश्लेषण कर समाधान को कार्यान्वित करना चाहिए। यह कार्य निम्नलिखित प्रकार से सम्पन्न होना चाहिए

1. समस्या की व्याख्या (Statement of the Problem)-सामाजिक समस्या के निराकरण के पहले उसका वैज्ञानिक पद्धति से अध्ययन किया जाना आवश्यक है। इसके लिए सर्वप्रथम उस समस्या का चयन किया जाता है; जिसका निराकरण करना है। समस्या की व्याख्या स्पष्ट रूप से की जाती तथा देखा जाता है कि सामाजिक समस्या के किन-किन पहलुओं का अध्ययन करना है। समस्या से सम्बन्धित कौन-कौन से कारण हैं; जो समस्या के समाधान के लिए मालूम करने आवश्यक हैं।

2. अवलोकन एवं तथ्यों का संकलन (Observation and Collection of Data)-सामाजिक समस्या का निराकरण तब अधिक व्यावहारिक तथा सरल हो जाता है; जब उससे सम्बन्धित

विभिन्न तथ्यों, कारणों तथ प्रभावों का पूर्ण ज्ञान हो। इसी उद्देश्य को ध्यान में रख कर अध्ययन के द्वितीय चरण में समस्या से सम्बन्धित तथ्यों का अवलोकन तथा संकलन किया जाता है। तथ्यों के संकलन की प्रविधि का चयन सामाजिक समस्या की प्रकृति के अनुसार किया जाता है; यह प्रविधि-अवलोकन, साक्षात्कार, अनुसूची, प्रश्नावली आदि होती है।

कई बार ऐसा होता है कि लोग परिस्थिति की भिन्न-भिन्न व्याख्या करते हैं; उदाहरण के रूप में जनसंख्या के नियंत्रण में परिवार कल्याण को लोग ठीक मानते हैं, परन्तु उसके साधनों, तरीकों अथवा उपकरणों के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विचार हैं। इसलिए सामाजिक समस्या के बारे में यह ज्ञात करना आवश्यक हो जाता है कि लोगों के व्यवहार और विचार क्या-क्या हैं। समाज विशेष में क्या सही है तथा क्या गलत है, इसका निर्णय करने के लिए सम्बन्धित समाज के मूल्यों, परम्पराओं, नैतिक सदाचार आदि की सहायता लेनी चाहिए। समस्या को सम्बन्धित समाज के संदर्भ में अध्ययन करके समझना चाहिए।

3. तथ्यों का वर्गीकरण, सारणीयन एवं संगठन (Classification, tabulation and organisation of Data) तथ्य संकलन के पश्चात् एकत्र सामग्री में परस्पर कारण-प्रभाव का अध्ययन करने के लिए तथ्यों को विभिन्न वर्गों या समूहों में बाँटा जाता है। उनके गुणों और वर्गों को ध्यान में रखकर एकत्र सामग्री को तालिका के रूप में व्यवस्थित किया जाता है। इससे सामाजिक समस्या से सम्बन्धित कारकों का कारण स्पष्ट हो जाता है, जो समस्या के समाधान की योजना बनाने में मदद करते हैं।

4. समस्या का निराकरण (Removal of the Problem) इस प्रकार समस्या से सम्बन्धित सम्पूर्ण जानकारी मिलने के बाद समाधान की योजना तैयार की जाती है। जहाँ सामाजिक क्रिया करना आवश्यक होता है; वहाँ सामाजिक समस्या का समाधान प्रचलित सामाजिक और आर्थिक संस्थाओं में परिवर्तन करने का प्रयास करके समस्या का निवारण करते हैं। जहाँ सामाजिक कार्य (Social Work) की आवश्यकता होती है, वहाँ पर जिन व्यक्तियों को सहायता की आवश्यकता होती है, दी जाती है। सामाजिक क्रिया समस्या को जड़ से समाप्त करती है तथा समस्या के उत्पत्ति सम्बन्ध कारणों को ही नष्ट करती है। सामाजिक कार्य तो मात्र बुराइयों का समाधान करना है। सामाजिक क्रिया बुराई को दूर करने के लिए अधिनियम बनाती है; जैसे-बाल विवाह, दहेज प्रथा, सती प्रथा आदि को रोकने के लिए अधिनियम बनाए गए हैं। सामाजिक कार्य केवल सम्बन्धित लोगों को समझाता है, मदद करता है। सामाजिक क्रिया सामूहिक प्रयास हैं। यह एक संगठित प्रयास होता है। सामाजिक कार्य व्यक्तिगत स्तर पर भी किया जा सकता है।

इस प्रकार सामाजिक समस्या का अवलोकन, तथ्यों का संकलन, वर्गीरकण, सारणीयन, विश्लेषण आदि समस्या के समाधान में बहुत सहायक सिद्ध होते हैं।

सामाजिक परिवर्तन की दिशा तथा सामाजिक समस्याएँ (Direction of Social Change and Social Problems)

गिलिन, डिट्टमर, कोबर्ट तथा केस्लर ने सामाजिक परिवर्तन की दो दिशाओं का उल्लेख किया है। उन परिवर्तन की दिशाओं के अनुसार कुछ विशेष प्रकार की सामाजिक समस्याएँ भी उत्पन्न होती हैं; जो निम्नलिखित हैं-

1. परिवर्तन की प्राथमिक दिशा (Primary Direction of Change)-जब किसी खोज अथवा आविष्कार को समाज नवाचार के रूप में स्वीकार कर लेता है, तब उससे जो परिवर्तन होता है;

वह प्राथमिक दिशा में परिवर्तन कहलाता है। जब समाज नए-नए साधनों के प्रयोग को स्वीकार कर लेता है, तब भी परिवर्तन प्राथमिक दिशा में होता है। प्रथम अथवा मौलिक परिवर्तन प्राथमिक दिशा वाला परिवर्तन कहलाता है। इस प्रकार की दिशा का उल्लेख गिलिन तथा सहयोगियों ने किया है। जनसंख्या की आकस्मिक अदला-बदली भी इसके अन्तर्गत आती है।

2. परिवर्तन की द्वितीयक दिशा (Secondary Direction of Change) परिवर्तन की द्वितीयक दिशा से गिलिन तथा साथियों का तात्पर्य प्राथमिक दिशा में परिवर्तन के फलस्वरूप उत्पन्न कुसमायोजन से है। सन् 1947 में भारत-पाकिस्तान के बँटवारे से जनसंख्याओं की अदला-बदली से जो सामाजिक कुसमायोजन पैदा हुआ वह परिवर्तन की द्वितीयक दिशा थी। उससे अनेक सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हुई थीं। साम्प्रदायिक दंगे, शरणार्थियों की समस्या, लूटमार, हत्याएँ आदि द्वैतीयक दिशा में परिवर्तन था। गिलिन तथा साथियों का कहना है कि सामाजिक परिवर्तन की द्वितीयक दिशा से सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।

सामाजिक समस्याएँ और समाजशास्त्र (Sociology and Social Problems) समाजशास्त्र का उन सभी कारणों, कारकों, तथ्यों आदि से घनिष्ठ सम्बन्ध है; जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित करते हैं तथा प्रभावित होते हैं। समाजशास्त्र का सामाजिक समस्याओं के साथ केवल घनिष्ठ सम्बन्ध ही नहीं बल्कि ये तो समाजशास्त्र के अध्ययन का क्षेत्र और विषय सामग्री भी है। समाजशास्त्र की एलेक्स इ्रंकल्स द्वारा जो परिभाषा दी गई है; उससे यह सत्य और स्पष्ट हो जाएगा। इनके अनुसार, "यह (समाजशास्त्र) सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक अव्यवस्था की प्रकृति की व्याख्या करता है।" जब समाजशास्त्र सामाजिक अव्यवस्था की प्रकृति की व्याख्या करता है, तब वह सामाजिक समस्याओं की ही व्याख्या करता है। इंकल्स ने आगे लिखा है, "समाजशास्त्र उस व्यवस्था की खोज, तलाश, वर्णन और व्याख्या करता है, जो मानव के सामाजिक जीवन के गुण-दोषों को बताता है।" सामाजिक जीवन के दोष ही सामाजिक समस्याएँ हैं, जो समाजशास्त्र के अध्ययन के प्रमुख उद्देश्यों में से एक उद्देश्य है।

समाजशास्त्र की प्रमुख भूमिका सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन करने की है। समाजशास्त्र का परिप्रेक्ष्य है-सामाजिक व्यवस्था किस प्रकार की बनी रहे? इसमें अव्यवस्था (समस्या) कैसे उत्पन्न होती है? समाज की समस्याओं को कैसे नियन्त्रित रखा जाता है? समाजशास्त्र इस बात का विशेष रूप से अध्ययन करता है कि किन-किन कारणों से सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं? उन्हें नियन्त्रित करने के लिए सामाजिक नियन्त्रण का अर्थ, परिभाषा, सिद्धान्त, प्रकार तथा अभिकरणों आदि का क्रमबद्ध तथा व्यवस्थित अध्ययन किया जाता है। विचलित व्यवहार के कौन-कौन से कारण हैं? सामाजिक समस्याओं और समाजीकरण में परस्पर क्या सम्बन्ध है? पारितोष और दण्ड के द्वारा विचलित व्यवहार कैसे नियन्त्रित किय जा सकता है? इन विभिन्न पक्षों का समाजशास्त्र में वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है, जो सामाजिक समस्याओं से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। समाजशास्त्र में विवाह, परिवार, समूह, जाति, वर्ग संघर्ष आदि का अध्ययन किया जाता है। इन विषयों पर अनुसन्धान कार्य किए जाते हैं, जो सामाजिक समस्याओं को समझने तथा हल करने में विशेष रूप से सहायता करते हैं।

सामाजिक समस्याएँ और वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य (Social Problems and Scientific Perspective)- समाजशास्त्र में सामाजिक समस्याओं का वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के अनुसार पक्षपातरहित अध्ययन किया जाता है। वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन के निम्न चरणों-1. समस्या का कथन, अथवा समस्या से सम्बन्धित प्राक्कल्पना का निर्माण, 2. सामग्री का संकलन, अवलोकन एवं परीक्षण, 3. तथ्यों का वर्गीकरण, सारणीयन एवं संगठन, 4. सामान्यीकरण, निष्कर्ष, 5. प्रतिवेदन लिखा जाता है। समस्या से

स्व-प्रगति की जाँच करें :

1. सामाजिक समस्याओं के बारे में समाजशास्त्री पाल एच. लैंडिस और रॉब तथा सेल्जनिक के कथन लिखें।
2. विभिन्न विद्वानों की सामाजिक समस्याओं के बारे में दी गई परिभाषाओं के आधार पर आप क्या निष्कर्ष स्पष्ट कर सकते हैं?
3. समाजशास्त्री पॉल लैंडिस ने सामाजिक समस्याओं के जिन चार कारणों का उल्लेख किया है, उन्हें क्रमबार लिखें।
4. सामाजिक समस्याओं के निराकरण में आने वाली प्रमुख बाधाओं में कार्य की धीमी गति भी महत्वपूर्ण बाधा है। इसे आप कैसे स्पष्ट करेंगे?

सम्बन्धित विभिन्न तथ्यों में परस्पर कारण-प्रभाव सम्बन्धों का परीक्षण और अवलोकन किया जाता है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण वैज्ञानिक होता है; जिसमें कारणता, आनुभविकता, सार्वभौमिकता आदि का ध्यान रखा जाता है। सामाजिक समस्या से सम्बन्धित निम्न प्रश्नों के उत्तरों का अन्वेषण किया जाता है।-

1. क्या है? (What is it?)
2. कैसे है? (How is it?)
3. क्यों है? (Why is it?)
4. क्या होगा? (What will it be?)

सामाजिक समस्याओं का अन्वेषण समाजशास्त्र में वैज्ञानिक दृष्टिकोण से करते समय उपर्युक्त प्रश्नों का ध्यान रखा जाता है। मानविकी परिप्रेक्ष्य में "क्या होना चाहिए?" प्रश्न का भी उत्तर दिया जाता है। समाजशास्त्र सामाजिक समस्याओं की प्रकृति का अध्ययन करके सामान्यीकरण करता है। समस्याओं से सम्बन्धित सिद्धान्तों को प्रतिपादित करता है; जिसके द्वारा समस्याओं के हल खोजे तथा कार्यान्वित किए जा सकते हैं।

सामाजिक समस्याएँ और मानविकी परिप्रेक्ष्य (Social Problems and Humanistic Perspective)- समाजशास्त्र में एक विद्वानों का समूह सामाजिक समस्याओं के प्रति मानविकी दृष्टिकोण रखता है। मानविकी दृष्टिकोण अथवा परिप्रेक्ष्य के अनुसार सामाजिक समस्याओं का अध्ययन करने के साथ-साथ उसके समाधान की योजना भी बनाई जाती है तथा कार्यान्वित करने का प्रयास भी किया जाता है। समाजशास्त्र में दुर्खीम द्वारा आत्महत्या का विनिबन्ध इसका उदाहरण है। मानविकी प्ररिप्रेक्ष्य के अनुसार समस्याओं के कारणों का पता लगाया जाता है। व्यापक रूप से समस्या को प्रस्तुत किया जाता है। उनको दूर करने के लिए व्यावहारिक और उपयोगी योजना तथा नीतियों को प्रस्तुत किया जाता है। सामाजिक समस्याओं को रोकने के लिए सुझाव दिए जाते हैं। मानविकी दृष्टिकोण में समाज के सुधार, विकास, उन्नति आदि के लिए प्रयास किए जाते हैं। उस परिप्रेक्ष्य के अन्तर्गत समस्या के विभिन्न कारणों की खोज की जाती है। उसे दूर करने के लिए प्रयास किये जाते हैं। बाल अपराध तथा अपराध के सम्बन्ध में जो अन्वेषण किया जाएगा उसमे इन समस्याओं के कारणों को खोजा जाएगा, अपराधियों को सुधारने के विभिन्न तरीकों का पता लगाया जाएगा। सुधारात्मक योजना तैयार की जाएगी। इसी प्रकार विवाह विच्छेद भिक्षावृत्ति, नशाखोरी, बेकारी, निर्धनता आदि का अध्ययन करने में उनको दूर करने के उपायों का पता लगाया जाएगा। यही सामाजिक समस्याओं का मानविकी परिप्रेक्ष्य के अनुसार अध्ययन कहलाता है।

समाजशास्त्र में सामाजिक समस्याओं का मानविकी और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जो अध्ययन किया जाता है, उसकी निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ हैं-

1. समाजशास्त्र सामाजिक समस्याओं के सभी पक्षों का अध्ययन करता
2. सामाजिक समस्याओं का अध्ययन वैज्ञानिक और मानविकी दोनों दृष्टिकोणों से किया जाता है।
3. समस्याओं के समाधान के लिए रचनात्मक योजना तैयार करने के लिए सभी प्रकार की जानकारी योजनाकार को प्रदान करता है।
4. सामाजिक समस्याओं का क्या है, क्यों है, कैसे है, क्या होगा तथा क्या होना चाहिए आदि सभी दृष्टिकोणों से सम्बन्धित कार्य-कारणों का अध्ययन करता है।

5. सामाजिक समस्याओं के प्रति लोगों में जागरूकता पैदा करता है।
6. सामाजिक समस्याओं के प्राथमिक तथा द्वितीयक दिशाओं के परिवर्तन की जानकारी देता है। 7. समाजिक समस्याओं के वैज्ञानिक अध्ययन को सम्भव बनाता है।

सारांश

सामाजिक समस्याओं का अध्ययन समाजशास्त्र की विशेष शाखा "अपराधशास्त्र' (Criminology) में किया जाता है। यहाँ पर थोड़ा-सा इस पर भी प्रकाश डालना आवश्यक है कि समाजशास्त्र में सामाजिक समस्याओं का अध्ययन किस परिप्रेक्ष्य-वैज्ञानिक या मानविकी परिप्रेक्ष्य के अनुसार किया जाता समाजशास्त्र में इस सम्बन्ध में दो अभिप्राय हैं। एक सम्प्रदाय का मानना है कि समाजशास्त्र को सामाजिक समस्याओं का अध्ययन केवल वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के अनुसार करना चाहिए। दूसरे संप्रदाय का कहना है कि समाजशास्त्र को वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के साथ-साथ मानविकी परिप्रेक्ष्य का भी ध्यान रखना चाहिए। वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में "क्या है?" तथा "क्या होगा?" का अध्ययन किया जाता है।"क्या होना चाहिए? "का अध्ययन मानविकी परिप्रेक्ष्य है, जो वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के अन्तर्गत नहीं आता है।

स्व-प्रगति की जाँच के उत्तर :

1. पाल एच. लैंडिस (Paul H. Landis) ने लिखा है, "सामाजिक समस्याएँ व्यक्ति की कल्याणकारी अपूर्ण आकांक्षाएँ हैं।"

   रॉब तथा सेल्जनिक (Roab Earl and G J. Selznick) ने कहा है, "यह मानवीय सम्बन्धों की एक समस्या है; जो समाज के लिए एक गम्भीर खतरा है अथवा जो अनेक व्यक्तियों की आकांक्षाओं की पूर्ति में बाधाएँ पैदा करती हैं।"

2. विभिन्न विद्वानों की परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि सामाजिक समस्या एक व्यापक समाजशास्त्रीय अवधारणा है; जिसके द्वारा सामाजिक अव्यवस्था में वृद्धि होती है। यह समाज विरोधी होती है। यह एक समाज में तनाव एवं संघर्ष पैदा करती है। सामाजिक समस्या समाज के आदर्शों तथा अपेक्षित व्यवहारों का उल्लंघन है।

3. पॉल लैंडिस के अनुसार सामाजिक समस्या के निम्नलिखित चार कारण हैं-

   1. व्यक्ति का समायोजन करने में असफल होना।
   2. सामाजिक संरचना का दोषपूर्ण होना।
   3. संस्थात्मक समायोजन में असफल होना।
   4. सामाजिक नीतियों में संस्थात्मक विलम्बन का होना।

4. सामाजिक समस्याओं के निराकरण के लिए जो योजनाएँ बनाई जाती हैं; उनको बहुत धीमी गति से कार्यान्वित किया जाता है जिससे उसके परिणाम कई वर्षों में भी देखने को मुश्किल से ही मिलते हैं। अनेक अधिनियम सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए बनाए गए हैं, परन्तु उन्हें व्यवहार में लाने में काफी समय लगाया जा रहा है; जैसे-बाल विवाह निरोधक अधिनियम, दहेज प्रथा निरोधक अधिनियम, विवाह विच्छेद अधिनियम आदि।

NOTES

अभ्यास-प्रश्न

1. व्यावहारिक समाजशास्त्र का अर्थ स्पष्ट करें तथा इसके उद्देश्यों का वर्णन करें।
2. सामाजिक समस्याओं की परिभाषा दीजिए तथा इसके तत्त्वों एवं विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
3. सामाजिक समस्याओं के कारणों का उल्लेख करें तथा इनके समाधान प्रस्तुत करें।
4. सामाजिक समस्याओं के निराकरण में आने वाली बाधाओं पर टिप्पणी लिखें।

ekM îy&6

समाजशास्त्र तथा सामाजिक परिवर्तन (SOCIOLOGY AND SOCIAL CHANGE)

इस अध्याय के अन्तर्गत :

- समाजशास्त्र के नियोजित विकास पर समाजशास्त्री कॉम्ट के विचार
- समाजशास्त्र एवं विकास के सम्बन्ध में हॉबहाउस और बोहो मोर के विचार
- समाजशास्त्र, सामाजिक नीति एवं क्रियान्वयन
- भारतीय संविधान में राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक न्याय की व्याख्या
- नीतियों का क्रियान्वयन और मूल्यांकन

अध्याय के उद्देश्य :

- इस अध्याय के अध्ययन के उपरांत आप जान सकेंगे :
- समाजशास्त्र के नियोजित विकास पर समाजशास्त्री कॉम्ट के विचार
- समाजशास्त्र एवं विकास के सम्बन्ध में हॉबहाउस और बोहो मोर के विचार
- समाजशास्त्र, सामाजिक नीति एवं क्रियान्वयन
- भारतीय संविधान में राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक न्याय की व्याख्या
- नीतियों का क्रियान्वयन और मूल्यांकन

bdkbl&14
lekt'kkL= rFkk lkekftd ifjorZu

समाजशास्त्र और सामाजिक परिवर्तन के बीच अति निकट का सम्बन्ध है। समाजशास्त्रीय अवधारणाओं, सिद्धान्तों तथा अन्तः दृष्टि का प्रयोग सामाजिक परिवर्तन के प्रबन्ध में किया जा सकता है। परिवर्तन एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। इतिहास में कोई भी ऐसा समय या काल दिखाई नहीं पड़ता; जब समाज स्थिर हो गया हो या परिवर्तन रुक गया हो। समय के साथ-साथ समूह, समाज एवं राष्ट्र बदलते हैं, उनके सोचने-विचारने, कार्य करने एवं मूल्यों, आदर्शों एवं आचार-व्यवहार में परिवर्तन आते हैं। 19वीं शताब्दी तक परिवर्तन के सम्बन्ध में यह धारणा प्रचलित थी कि यह स्वतः ही होता है और जानबूझकर या चेतन प्रयत्न के द्वारा नहीं लाया जाता, लेकिन 20वीं शताब्दी में इस धारणा में कुछ बदलाव आया। अब यह महसूस किया जाने लगा कि समाज में निश्चित अवधि में परिवर्तन लाने हेतु चेतन रूप में प्रयत्न किया जा सकता है। यदि परिवर्तन को कोई दिशा नहीं दी जाय, यदि उसे ऐतिहासिक, भौतिक एवं प्राकृतिक शक्तियों पर छोड़ दिया जाए तो सम्भव है कि भविष्य का समाज वैसा नहीं बन पाए जैसा हम बनाना चाहते हैं। ऐसी दशा में यह आवश्यक नहीं है कि परिवर्तन इच्छित या वांछनीय ही हो। ऐसे अनियोजित परिवर्तन के फलस्वरूप सम्भव है कि समाज प्रगति करने की बजाय अवनति की ओर उन्मुख हो। 21वीं शताब्दी में कोई भी देश यह नहीं चाहता कि समाज में मनमाने या अनियोजित तरीके से परिवर्तन आए। प्रत्येक समाज आज विकास की ओर आगे बढ़ना चाहता है। यह सब कुछ उसी समय सम्भव है जब इच्छित लक्ष्यों को प्राप्त करने हेतु योजनाबद्ध तरीके से प्रयास किये जाएँ।

आज पिछड़े हुए राष्ट्र विकासशील और विकसित राष्ट्रों की श्रेणी में आना चाहते हैं। प्रत्येक राष्ट्र चेतन प्रयत्नों द्वारा निश्चित अवधि में कुछ वांछनीय लक्ष्यों को प्राप्त करने हेतु आगे बढ़ना चाहता है, ऐसा करके वह अपनी समाज व्यवस्था को इस प्रकार बदलना चाहता है कि लोगों को विभिन्न प्रकार की समस्याओं से छुटकारा मिल सके, जीवन का सर्वांगीण विकास किया जा सके। यह सब कुछ नियोजन (Plannign) द्वारा ही सम्भव आज भारत तथा अन्य आधुनिक समाजों में परिवर्तन की प्रक्रिया काफी तीव्र हो गयी है। आज के आधुनिक समाज कुछ ही वर्षों मे इतने बदल गए और तेजी से बदल रहे हैं कि जितने पिछले सैकड़ों वर्षों में नहीं बदले। समाज में परिवर्तन एक सार्वभौमिक तथ्य हैं और यह परिवर्तन भी तेजी से आता जा रहा है। इसे इच्छित दिशा में मोड़ना या सामाजिक नीति के अनुरूप दिशा देना अत्यन्त आवश्यक है। आधुनिक समय में राज्य की शक्तियाँ, अधिकार और कार्य काफी बढ़ गए हैं। राज्य आज परिवर्तन का एक सशक्त माध्यम बन गया है। राज्य का अपने नागरिकों की सुख-सुविधाओं का ध्यान रखने, उनके जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने, उनकी समस्याओं को हल करने और व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास का परम दायित्व है। आज देश के लाखों-करोड़ों लोगों को कुछ सम्पन्न शक्तिशाली या पूंजीपतियों की कृपा पर नहीं छोड़ा जा सकता। अतः नियोजित परिवर्तन के माध्यम से समाज को बदलने की नितान्त आवश्यकता है।

कॉम्ट ने नियोजित परिवर्तन के महत्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि इस समाज को पुनः निर्माण की आवश्यकता है। इसका कारण स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया है कि व्यक्ति में आगे की ओर देखने की शक्ति मौजूद है और इसी शक्ति की सहायता और इसी शक्ति की सहायता से वह दशाओं में इच्छित परिवर्तन ला सकता है। आज के परिवर्तनशील युग में नियोजित परिवर्तन के बिना समाज को कल्याण की दिशा में आगे बढ़ाना असम्भव है। हमारा देश कल्याणकारी राज्य के लक्ष्य को उसी समय प्राप्त कर सकता है; जब नियोजित परिवर्तन के माध्यम से समाज के सभी व्यक्तियों के विकास की ओर ध्यान दिया जाए। भारत में ऐसे लोगों की संख्या कभी करोड़ों में है; जो निर्धनता रेखा के नीचे हैं, जो अभावमय स्थिति में जीवन बिता रहे हैं, जो सामाजिक सांस्कृतिक और आर्थिक क्षेत्र में समानता के युग में संवैधानिक प्रावधानों के बावजूद

भी अनेक निर्योग्यताओं से पीड़ित हैं, जब तक इन पिछड़े वर्गों के उत्थान के लिए योजना बनाकर कार्य नहीं किया जाता, तब तक समूचे राष्ट्र का कल्याण सम्भव नहीं है।

परिवर्तन चाहे नियोजित हो या अनियोजित; समाशास्त्रीय ज्ञान का, सर्वेक्षणों और अनुसन्धानों का पूरा-पूरा लाभ उठाया जाना चाहिए। यहाँ हमें इस बात को भी ध्यान में रखना है कि सामाजिक समस्याओं के निवारण हेतु अच्छे से अच्छे नियोजित परिवर्तन के प्रयत्न का जनता विरोध भी कर सकती है; ऐसी स्थिति में समाज वैज्ञानिकों एवं प्रशासन को समुदाय के लोगों की परम्पराओं और प्रथाओं को ध्यान में रखना होगा वरना उत्तम से उत्तम कार्यक्रम के असफल होने की सम्भावना रहेगी। यहाँ श्री संजय गांधी के पाँच सूत्री कार्यक्रम का उदाहरण दिया जा सकता है। आपातकाल के दौरान परिवार नियोजन के लिए नसबन्दी कार्यक्रम को बड़े उत्साह के साथ चलाया गया, परन्तु लोक-परम्पराओं व जनभावनाओं की उपेक्षा की गयी। परिणामस्वरूप परिवार नियोजन के विरुद्ध प्रबल जन आक्रोश प्रकट हुआ। अतः सामाजिक परिवर्तन को दिशा देने और सामाजिक समस्याओं के निवारण हेतु बुद्धिमत्तापूर्ण विधियो का प्रयोग किया जाना चहिए।

समाजशास्त्र एवं विकास (Sociology and Development)

समाजशास्त्र, सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक विकास में गहरा सम्बन्ध है। समाजिक नीति; परिवर्तन की दिशा तय करती है और जब परिवर्तन इच्छित दिशा में होते हैं या निर्देशित रूप में होते हैं तो समाज विकास की ओर अग्रसर होता है। आधुनिक समय में विकास शब्द का प्रयोग अधिकांशतः आर्थिक अर्थों में किया गया है। प्रति व्यक्ति आय, श्रम विभाजन, विशेषीकरण, पूँजी निर्माण में वृद्धि, प्राकृतिक स्रोतों का अधिकाधिक दोहन, मानवीय ज्ञान द्वारा प्रकृति पर अधिकाधिक नियन्त्रण आर्थिक विकास को इंगित किया करते हैं। विकास शब्द का प्रयोग आर्थिक क्षेत्र तक सीमित रखना उचित नहीं है। यह धर्म, प्रथाओं, परिवार, राजनीति, संस्कृति आदि अनेक क्षेत्रों में प्रयुक्त किया जा सकता है। सामाजिक विकास में सामाजिक सम्बन्धों का विस्तार होता है। सामाजिक विकास से व्यक्ति की स्वतन्त्रता, पारस्परिक सहयोग एवं नैतिकता की भावना तथा समुदाय की आय एवं सम्पत्ति में वृद्धि होती है। आर्थिक विकास सामाजिक विकास का ही अंग है; जिसे विभिन्न आधारों पर मापना सरल है।

हॉबहाउस ने सामाजिक विकास के चार मापदण्डों का उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि किसी भी समुदाय को तब विकसित कहा जाना चाहिए जब उसकी मात्रा, कार्यक्षमता, स्वतन्त्रता और सेवा की पारस्परिकता में वृद्धि होती है। समुदाय की मात्रा में वृद्धि का अर्थ है; जनसंख्या में बढ़ोत्तरी, शक्ति का उत्पादन और क्रियाओं का विस्तार। कार्यक्षमता में वृद्धि का तात्पर्य है; किसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु कार्यों का विभाजन कर उनमें सहयोग की भावना को प्रोत्साहन देना। स्वतन्त्रता का अर्थ है; समुदाय के प्रत्येक सदस्य को कार्य करने व विचार करने का अधिकार दिया जाना। सेवा की पारस्परिकता से तात्पर्य है; लोगों में पारस्परिक सहयोग एवं सेवा की भावना में वृद्धि होना।

बोटोमोर कहते हैं कि विकास शब्द का एक प्रयोग ग्रामीण एवं कृषि प्रधान तथा औद्योगीकृत समाजों में भेद प्रकट करने के लिए किया गया है। विकास शब्द द्वारा इन दोनों प्रकार के समाजों में पाए जाने वाले आय के अन्तर तथा ग्रामीण एवं कृषि प्रधान समाज के औद्योगीकृत हो जाने की प्रक्रिया को प्रकट किया जाता है। इस प्रकार विकास शब्द का प्रयोग नवीन विचारधारा में दो विशेषताओं को बताने के लिए किया गयाः

1. वर्तमान समय में देखे जाने वाले विशिष्ट प्रकार के परिवर्तनों की चर्चा के लिए, तथा
2. उन आर्थिक परिवर्तनों के लिए जिन्हें मापा एवं पहचाना जा सके।

इस अर्थ में यदि मानव अपने ज्ञान में वृद्धि कर नवीन आविष्कारों द्वारा प्रकृति पर नियन्त्रण बढ़ाने में सफल होता है, तो वह निश्चय ही विकास कहलाएगा।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि सामाजिक विकास समाज का विकासोन्मुख परिवर्तन है, जिसमें निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नियन्त्रित एवं जागरूक नियोजन या नियोजित सामाजिक परिवर्तन का सहारा लिया जाता है तो यह नियोजन निश्चित रूप से सामाजिक नीति की ओर उन्मुख होता है।

समाजशास्त्र, सामाजिक नीति एवं क्रियान्वयन
(Sociology Social policy and Action)

समाजशास्त्र में जहाँ व्यवस्था और अव्यवस्था दोनों का अध्यन किया जाता है, वहाँ अव्यवस्था से सम्बन्धि त सामाजिक समस्याओं पर विचार करना भी आवश्यक हो जाता है। व्यावहारिक समाजशास्त्र सामाजिक समस्याओं के सम्बन्ध में वैज्ञानिक अध्ययनों के आधार पर प्रामाणिक ज्ञान उपलब्ध कराता और समस्याओं के कार्य-कारण सम्बन्धों को खोज निकालता है। व्यावहारिक समाजशास्त्र का प्रमुख उद्देश्य सामाजिक समस्याओं के समाधान हेतु सामाजिक नीति के निर्धारण में योगदान देना है। नीतियों के अनुरूप योजनाएँ बनाना, कार्यक्रम संचालित करना, उनके क्रियान्वयन पर दृष्टि रखना और आवश्यकतानुसार मूल्यांकन करना भी व्यावहारिक समाजशास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। नीति-निर्माण में सामाजिक परिवर्तनों की दिशा और बदलते परिवेश में समाज की आवश्यकताओं को भी ध्यान में रखना पड़ता है। तभी कहीं विकास के लक्ष्यों को निर्धारित किया जा सकता है। इन लक्ष्यों और सामाजिक नीति में समुचित ताल-मेल होना चहिए। ऐसा होने पर ही विकास कार्यक्रमों को सफलतापूर्वक आगे बढ़ाया जा सकता है। समाज में सामाजिक नीतियों के अनुरूप परिवर्तन आ रहे हैं या नहीं; यह ज्ञात करने के लिए नीतियों के क्रियान्वयन पर पूरा-पूरा ध्यान देना आवश्यक है।

सामाजिक नीति वह नीति है, जो राज्य द्वारा अपने समाज के लोगों विशेषतः कमजोर वर्ग के लोगों की सामाजिक व आर्थिक स्थिति को ऊँचा उठाने के निर्धारित प्रयत्नों के रूप में बनाई जाती है। इसमें उन उपायों की ओर ध्यान दिया जाता है; जिनकी सहायता से लोगों के जीवन को उन्नत करने का प्रयास किया जाता है। स्पष्ट है कि सामाजिक नीति नियोजन तथा विकास को दिशा प्रदान करती है; उदाहरण के रूप में भारत के संविधान में राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्तों में कल्याणकारी राज्य की स्थापना का लक्ष्य रखा गया। यहाँ सामाजिक न्याय, समानता, स्वतन्त्रता तथा बन्धुत्व पर सामाजिक नीति के प्रमुख सिद्धान्तों के रूप में जोर दिया गया। यहाँ समतावादी समाज की रचना का लक्ष्य रखा गया है, विकास इसी दिशा में उन्मुख होगा। नियोजित सामाजिक परिवर्तन या सामाजिक नियोजन इसी दिशा में बढ़ाने का प्रयत्न है।

यहाँ हमें विशेषतः ध्यान में रखना है कि समाजशास्त्री तथा समाज-वैज्ञानिक अपने अनुसन्धानों के परिणामों को प्रकाशित कर सामाजिक नीति के निर्धारण में राज्य की काफी मदद कर सकते हैं। जब तक सरकार को यह पता नहीं चलेगा कि समाज में कमजोर वर्ग के लोग कौन हैं, उनकी क्या-क्या समस्याएँ हैं, देश में गरीबी और बेकारी की क्या स्थिति है, अपराध कहाँ किन लोगों में अधिक पाए जाते हैं, ग्रामीण पुनःनिर्माण तथा देश में औद्योगीकरण व नगरीकरण की क्या स्थिति है और ये लोगों के जीवन को किन-किन रूपों में प्रभावित कर रहे हैं, तब तक सरकार सामाजिक नीति का निर्धारण नहीं कर सकती और विकास को ध्यान

में रखकर सामाजिक नियोजन को सही दिशा भी नहीं दी जा सकती। अतः समाजशास्त्री और विभिन्न विषयों के विद्वान अपने अध्ययनों और बौद्धिक चिन्तन के परिणामस्वरूप सामाजिक नीति के निर्धारण और नियोजित सामाजिक परिवर्तन लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं।

भारतीय संविधान में राजनीतिक सामाजिक और आर्थिक न्याय की व्याख्या भारतीय संविधान में न्याय के आदर्श की वही भूमिका है, जो मन्दिर में मंगल-कलश की होती है। संविधान निर्माताओं द्वारा इस तथ्य को समझ लिया गया है कि सच्चे लोकतन्त्र के लिए स्वतन्त्रता और समानता की ही नहीं, वरन् न्याय की भी आवश्यकता है, क्योंकि न्याय के बिना स्वतन्त्रता और समानता के आदर्श बिल्कुल व्यर्थ हो जाते हैं। संविधान की प्रस्तावना में सभी नागरिकों को राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक न्याय प्रदान करना संविधान का लक्ष्य घोषित किया गया है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अनेक कदम उठाए गए हैं। सर्वप्रथम राजनीतिक न्याय की प्राप्ति के लिए लोकतान्त्रिक व गणतन्त्रीय व्यवस्था को अपनाया गया है और संविधान के अनुच्छेद 19 द्वारा नागरिकों को 6 स्वतन्त्रताएं प्रदान की गई हैं।

भारतीय संविधान में सामाजिक न्याय के आदर्शों को अनेक रूपों में स्वीकार किया गया है। संविधान के तीसरे भाग (मौलिक अधिकार) और चौथे भाग (राज्य की नीति निदेशक तत्त्व) में सामाजिक न्याय की प्राप्ति के लिए विविध उपायों का उल्लेख किया गया है। अनुच्छेद 14 में भारत के सभी नागरिकों को कानून के सामने समानता और कानूनों से समान सुरक्षा प्रदान की गई है। अनुछेद 15 में धर्म, मूल वंश, जाति, लिंग या जन्म-स्थान के आधार पर भेदभाव की मनाही की गई है और अनुच्छेद 16 द्वारा राज्य के अधीन पदों पर नियुक्ति के सम्बन्ध में सब नागरिकों को अवसर की समानता प्राप्त है। अनुच्छेद 17 द्वारा छुआछूत का तथा अनुच्छेद 23 व 24 द्वारा बेगार व शोषण का अन्त कर दिया गया है। संविधान के उपर्युक्त अनुच्छेदों द्वारा सामाजिक न्याय के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर किया गया है और संविधान के नीति निदेशक तत्त्वों के अन्तर्गत विशेषतया अनुच्छेद 41 से 47 तक जो विविध व्यवस्थाएँ की गई हैं, उनका लक्ष्य सकारात्मक रूप से सभी नागरिकों को सामाजिक न्याय प्रदान करना है। अनुच्छेद 41 में नागरिकों का कुछ अवस्थाओं में काम, शिक्षा और लोक सहायता पाने का अधिकार स्वीकार किया गया है, अनुच्छेद 42 राज्य को जिम्मेदारी सौंपता है कि वह काम की उचित दशाएँ बनाए रखने का प्रयत्न करेगा। अनुच्छेद 43 श्रमिकों के निर्वाह योग्य मजदूरी का प्रबन्ध, अनुच्छेद 44 नागरिकों के लिए समान व्यवहार संहिता, अनुच्छेद 45 बालकों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था, अनुच्छेद 46 अनुसूचित जातियों तथा अन्य सभी दुर्बल वर्गों की शिक्षा और अर्थ सम्बन्धी उन्नति और अनुच्छेद 47 में सामान्य जनता के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने की बात कही गई है।

संविधान में अनुसूचित जातियों और जनजातियों को विशेष सुविधाएँ प्रदान की गई हैं, उन्हें किसी भी प्रकार से सामाजिक न्याय के प्रतिकूल नहीं कहा जा सकता है। वास्तव में, भारत के इन दलित वर्गों की स्थिति बहुत अधिक गिरी हुई थी और जब तक इन्हें विशेष स्थिति प्रदान न कर दी जाए, तब तक उनके द्वारा समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ समानता प्राप्त करने की आशा नहीं की जा सकती थी।

इसी प्रकार आर्थिक न्याय के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए भी संविधान के नीति निर्देशक तत्त्वों में विविध कार्य करने का निर्देश किया गया है। इस सम्बन्ध में कुछ प्रमुख व्यवस्थाएँ इस प्रकार हैं :

(i) राज्य प्रत्येक स्त्री और पुरुष को समान रूप से जीविका के साधन प्रदान करने का प्रयत्न करेगा और प्रत्येक नागरिक को, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, समान कार्य के लिए समान वेतन प्रदान करेगा।

(ii) राज्य देश के भौतिक साधनों के स्वामित्व और नियन्त्रण की व्यवस्था करेगा; जिससे कि अधिक से अधिक सार्वजनिक हित सुरक्षित हो सके।

(iii) राज्य इस बात का भी ध्यान रखेगा कि सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों का इस प्रकार से केन्द्रीकरण न हो कि सार्वजनिक हित को किसी प्रकार की हानि पहुँचे।

(iv) राज्य श्रमिक पुरुषों और स्त्रियों के स्वास्थ्य और शक्ति तथा बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग नहीं होने देगा।

(v) राज्य अपने आर्थिक साधनों के अनुसार और विकास की सीमाओं के भीतर यह प्रयास करेगा कि सभी नागरिक अपनी योग्यता के अनुसार रोजगार पा सकें और बेकारी, बुढ़ापा, बीमारी और अंगहीनता आदि दशाओं में सार्वजनिक सहायता प्राप्त कर सकें।

भारत के शासक दल द्वारा समाजवादी ढंग के समाज और लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना को अपना लक्ष्य घोषित किया गया है और अब तक की 10 पंचवर्षीय योजनाएँ इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए प्रयासरत रही हैं, लेकिन संविधान और शासन द्वारा की गई; इन सभी घोषणाओं के बावजूद यह मानना होगा कि सामाजिक और आर्थिक न्याय की दिशा में अभी तक जो कुछ किया गया है, उसकी तुलना में अभी बहुत अधिक किया जाना शेष है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि स्वतन्त्र भारत के संविधान में सभी नागरिकों को कुछ मौलिक अधि कार प्रदान किए गए हैं और साथ ही नीति-निर्देशक तत्त्वों का उल्लेख किया गया है। इसी के आधार पर देश में राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक नीतियों का निर्धारण किया गया। यहाँ प्रत्येक क्षेत्र में सामाजिक न्याय को प्रमुख स्थान दिया गया है।

स्व-प्रगति की जाँच करें :

1. विकास शब्द के बारे में समाजशास्त्री बोटोमोर क्या कहते हैं?
2. भारतीय संविधान में सामाजिक न्याय के आदर्शों को किन रूपों में अपनाया गया है?
3. भारतीय संविधान में आर्थिक न्याय के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए भी संविधान नीति निर्देशक तत्वों में विविध कार्य करने का निर्देश किया गया है। इस सम्बन्ध में कुछ प्रमुख व्यवस्थाएँ क्या हैं?
4. सरकार ने सामाजिक नीतियों को ध्यान में रखते हुए समय-समय पर जिन अनेक अधिनियमों को पारित किए हैं, उनके क्रियान्वयन के स्तर पर हमें किन बातों पर विशेष ध्यान देना होगा?

नीतियों का क्रियान्वयन और मूल्यांकन

सभी देशवासियों को सामाजिक न्याय प्राप्त हो, उनका नीतियों के अनुरूप विकास हो और देश प्रगति की दिशा में आगे बढ़े; इसके लिए आवश्यक है कि नीतियों के अनुरूप देश में योजनाएँ और कार्यक्रम बनाए जाएँ और उनके क्रियान्वयन पर समुचित ध्यान दिया जाए। यहाँ नौ पंचवर्षीय योजनाएँ समाप्त हो चुकी हैं और दसवीं योजना चल रही है। इन योजनाओं में मानव संसाधनों के विकास पर विशेष जोर दिया गया है। उसके पश्चात् समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया, गरीबी उन्मूलन हेतु अन्य कार्यक्रम भी प्रारम्भ किए गए, जैसे-स्वर्ण जयंती ग्राम स्वरोजगार योजना, प्रधानमन्त्री ग्रामीण सड़क योजना, सर्वशिक्षा अभियान योजना, ग्रामीण आवास योजना, अन्नपूर्णा योजना आदि। इसके अतिरिक्त महिला तथा बाल विकास पर विशेष ध्यान दिया गया। सामाजिक नीतियों को ध्यान में रखते हुए; वंचित समूहों? अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, धार्मिक तथा भाषाई अल्पसंख्यकों अन्य पिछड़े वर्गों, वृद्धों आदि के कल्याण कार्यक्रमों को आगे बढ़ाने की दृष्टि से भी प्रयत्न किए गए।

राष्ट्रीय जनसंख्या नीति 2000 को ध्यान में रखते हुए तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या को नियन्त्रित करने हेतु अनेक कार्यक्रम लागू किए गए। इनमें परिवार कल्याण कार्यक्रम पर विशेष जोर दिया गया। इसमें अल्पकालीन और दीर्घकालीन लक्ष्यों पर विशेष जोर दिया गया।

सरकार ने सामाजिक नीतियों को ध्यान में रखते हुए समय-समय पर अनेक अधिनियम पारित किए हैं; जैसे-दहेज प्रथा अधिनियम, 1961; बाल विवाह निरोधक अधिनियम 1929 (संशोधित रूप में 1976); हिन्दू विवाह अधिनियम 1955; अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम 1955, आदि। इन अधिनियमों का

मुख्य लक्ष्य सामाजिक समस्याओं का समाधान रहा है। क्रियान्वयन के स्तर पर हमें यह देखना होगा कि सामाजिक नीति को ध्यान में रखकर जो अधिनियम बनाए गए हैं, जो कार्यक्रम बनाए गए हैं, अनुसूचित जातियों, जनजातियों एवं पिछड़े वर्गों के उत्थान के लिए आरक्षण सम्बन्धी जो नीति अपनायी गई है, उसके अनुरूप वास्तव में कार्य हो रहा है या नहीं, क्या दहेज प्रथा कम हुई है, क्या बाल विवाह समाप्त हुए हैं, क्या अब अस्पृश्यता नहीं बरती जाती, क्या अब महिलाओं पर अत्याचार नहीं होते, कार्यक्रमों के सफल क्रियान्वयन के लिए इस प्रकार का मूल्यांकन आवश्यक है।

सारांश

भारत के गाँवों में लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाया गया, उसके अनुरूप ग्राम पंचायतों, पंचायत समितियों तथा जिला परिषदों का गठन किया गया। परन्तु क्रियान्वयन के स्तर पर हमें यह मालूम करना पड़ेगा कि क्या विकास कार्यक्रमों में जनता की सहभागिता बढ़ी है, क्या ग्रामीण लोक विकास कार्यों में अपेक्षित सहयोग दे पाते हैं, क्या इन संस्थाओं की वजह से गाँवों में गुटबन्दी या दलगत राजनीति बढ़ी है, विभिन्न विकास, कार्यक्रमों के आधार पर क्या गरीब-अमीर का भेद कम हुआ है, क्या कमजोर वर्ग के लोगों कृषि श्रमिकों, सीमान्त किसानों, बन्धुआ मजदूरों तथा दलितों की स्थिति में सुध र हुआ है। क्या इन लोगों की आय और आर्थिक समृद्धि में वृद्धि हुई है, क्या समतावादी समाज की दिशा में हम आगे बढ़ पाये हैं। इन सबका मूल्यांकन विभिन्न कार्यक्रमों के क्रियान्वयन पर ध्यान देने से ही हो सकता है। नीतियों के अनुरूप जिन परिवर्तनों की अपेक्षा की गई थी, वे परिवर्तन अभी आंशिक रूप से ही लाए जा सके हैं। अभी बहुत कुछ करना शेष है।

सामाजिक नीति और क्रियान्वयन की दृष्टि से यहाँ एक उदाहरण दिया जा सकता है, अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों की स्थिति सुधारने और सामाजिक न्याय के सिद्धान्त को आगे बढ़ाने के लिए पिछले करीब 55 वर्षों में कई कदम उठाये गए, लेकिन अब हम वर्तमान में सामाजिक आर्थिक परिदृश्य पर दृष्टि डालते हैं तो पाते हैं कि अर्थव्यवस्था के कुछ क्षेत्रों में जैसे-कृषि, विज्ञान, प्रौद्योगिकी एवं दूर संचार के क्षेत्र में भारी सफलता प्राप्त हुई है। परन्तु कुछ अन्य क्षेत्रों जैसे-गरीबी निवारण, शिक्षा व स्वास्थ्य, जनसंख्या नियन्त्रण आदि के क्षेत्र में अभी काफी कुछ किया जाना बाकी है। अभी आय तथा सम्पत्ति में असमानता और समाज के विभिन्न वर्गों के जीवन स्तर में काफी अन्तर देखने को मिलता है।

स्व-प्रगति की जाँच के उत्तर :

1. बोटोमोर कहते हैं कि विकास शब्द का एक प्रयोग ग्रामीण एवं कृषि प्रधान तथा औद्योगीकृत समाजों में भेद प्रकट करने के लिए किया गया है। विकास शब्द द्वारा इन दोनों प्रकार के समाजों में पाए जाने वाले आय के अन्तर तथा ग्रामीण एवं कृषि प्रधान समाज के औद्योगीकृत हो जाने की प्रक्रिया को प्रकट किया जाता है। इस प्रकार विकास शब्द का प्रयोग नवीन विचारधारा में दो विशेषताओं को बताने के लिए किया गया:

    1. वर्तमान समय में देखे जाने वाले विशिष्ट प्रकार के परिवर्तनों की चर्चा के लिए, तथा
    2. उन आर्थिक परिवर्तनों के लिए जिन्हें मापा एवं पहचाना जा सके।

    इस अर्थ में यदि मानव अपने ज्ञान में वृद्धि कर नवीन आविष्कारों द्वारा प्रकृति पर नियन्त्रण बढ़ाने में सफल होता है, तो वह निश्चय ही विकास कहलाएगा।

2. भारतीय संविधान में सामाजिक न्याय के आदर्शों को अनेक रूपों में स्वीकार किया गया है। संविधान

के तीसरे भाग (मौलिक अधिकार) और चौथे भाग (राज्य की नीति निदेशक तत्त्व) में सामाजिक न्याय की प्राप्ति के लिए विविध उपायों का उल्लेख किया गया है। अनुच्छेद 14 में भारत के सभी नागरिकों को कानून के सामने समानता और कानूनों से समान सुरक्षा प्रदान की गई है। अनुछेद 15 में धर्म, मूल वंश, जाति, लिंग या जन्म-स्थान के आधार पर भेदभाव की मनाही की गई है और अनुच्छेद 16 द्वारा राज्य के अधीन पदों पर नियुक्ति के सम्बन्ध में सब नागरिकों को अवसर की समानता प्राप्त है। अनुच्छेद 17 द्वारा छुआछूत का तथा अनुच्छेद 23 व 24 द्वारा बेगार व शोषण का अन्त कर दिया गया है। संविधान के उपर्युक्त अनुच्छेदों द्वारा सामाजिक न्याय के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर किया गया है और संविधान के नीति निदेशक तत्त्वों के अन्तर्गत विशेषतया अनुच्छेद 41 से 47 तक जो विविध व्यवस्थाएँ की गई हैं, उनका लक्ष्य सकारात्मक रूप से सभी नागरिकों को सामाजिक न्याय प्रदान करना है। अनुच्छेद 41 में नागरिकों का कुछ अवस्थाओं में काम, शिक्षा और लोक सहायता पाने का अधि कार स्वीकार किया गया है, अनुच्छेद 42 राज्य को जिम्मेदारी सौंपता है कि वह काम की उचित दशाएँ बनाए रखने का प्रयत्न करेगा। अनुच्छेद 43 श्रमिकों के निर्वाह योग्य मजदूरी का प्रबन्ध अनुच्छेद 44 नागरिकों के लिए समान व्यवहार संहिता, अनुच्छेद 45 बालकों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था, अनुच्छेद 46 अनुसूचित जातियों तथा अन्य सभी दुर्बल वर्गों की शिक्षा और अर्थ सम्बन्धी उन्नति और अनुच्छेद 47 में सामान्य जनता के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने की बात कही गई है।

3. आर्थिक न्याय के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए भी संविधान के नीति निर्देशक तत्त्वों में विविध कार्य करने का निर्देश किया गया है। इस सम्बन्ध में कुछ प्रमुख व्यवस्थाएँ इस प्रकार हैं :

   (i) राज्य प्रत्येक स्त्री और पुरुष को समान रूप से जीविका के साधन प्रदान करने का प्रयत्न करेगा और प्रत्येक नागरिक को, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, समान कार्य के लिए समान वेतन प्रदान करेगा।

   (ii) राज्य देश के भौतिक साधनों के स्वामित्व और नियन्त्रण की व्यवस्था करेगा; जिससे कि अधिक से अधिक सार्वजनिक हित सुरक्षित हो सके।

   (iii) राज्य इस बात का भी ध्यान रखेगा कि सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों का इस प्रकार से केन्द्रीकरण न हो कि सार्वजनिक हित को किसी प्रकार की हानि पहुँचे।

   (iv) राज्य श्रमिक पुरुषों और स्त्रियों के स्वास्थ्य और शक्ति तथा बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग नहीं होने देगा।

   (v) राज्य अपने आर्थिक साधनों के अनुसार और विकास की सीमाओं के भीतर यह प्रयास करेगा कि सभी नागरिक अपनी योग्यता के अनुसार रोजगार पा सकें और बेकारी, बुढ़ापा, बीमारी और अंगहीनता आदि दशाओं में सार्वजनिक सहायता प्राप्त कर सकें।

4. सरकार ने सामाजिक नीतियों को ध्यान में रखते हुए समय-समय पर अनेक अधिनियम पारित किए हैं; जैसे-दहेज प्रथा अधिनियम, 1961; बाल विवाह निरोधक अधिनियम 1929 (संशोधि त रूप में 1976) ; हिन्दू विवाह अधिनियम 1955; अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम 1955, आदि। इन अधिनियमों का मुख्य लक्ष्य सामाजिक समस्याओं का समाधान रहा है। क्रियान्वयन के स्तर पर हमें यह देखना होगा कि सामाजिक नीति को ध्यान में रखकर जो अधिनियम बनाए गए हैं, जो कार्यक्रम बनाए गए हैं, अनुसूचित जातियों, जनजातियों एवं पिछड़े वर्गों के उत्थान के लिए आरक्षण सम्बन्धी

जो नीति अपनायी गई है, उसके अनुरूप वास्तव में कार्य हो रहा है या नहीं, क्या दहेज प्रथा कम हुई है, क्या बाल विवाह समाप्त हुए हैं, क्या अब अस्पृश्यता नहीं बरती जाती, क्या अब महिलाओं पर अत्याचार नहीं होते, कार्यक्रमों के सफल क्रियान्वयन के लिए इस प्रकार का मूल्यांकन आवश्यक है।

अभ्यास-प्रश्न

1. सामाजिक परिवर्तन का अर्थ स्पष्ट करें।
2. समाजशास्त्र तथा विकास में सम्बन्धों पर टिप्पणी लिखें।
3. सामाजिक नीति से क्या तात्पर्य है?
4. भारतीय संविधान में राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक न्याय की व्यवस्था की समीक्षा करें।

lanHkZ xzaFk lwph %&

1. भारतीय सामाजिक संरचना एवं परिवर्तन, के.एल. शर्मा, रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2006.
2. भारत में सामाजिक स्तरीकरण और परिवर्तन, योगेंद्र सिंह, मिशिगन विश्वविद्यालय, 2009.
3. सामाजिक स्तरीकरण, के.एल. शर्मा, रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2011.
4. भारतीय सामाजिक संरचना एवं परिवर्तन, के.एल. शर्मा, रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2006.
5. समाजशास्त्र के सिद्धांत, एम.एल. गुप्ता, डॉ. डी.डी. शर्मा, साहित्य भवन पल्बिकेशन, आगरा, 2023.
6. समाजशास्त्र, आचार्य डॉ. गोपाल कृष्ण अग्रवाल, साहित्य भवन पल्बिकेशन, आगरा, 2018.
7. सामाजिक संरचना तथा स्तरीकरण, डॉ. अभय प्रताप सिंह, शिवांक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017.

MATS UNIVERSITY

MATS CENTER FOR OPEN & DISTANCE EDUCATION

UNIVERSITY CAMPUS : Aarang Kharora Highway, Aarang, Raipur, CG, 493 441

RAIPUR CAMPUS: MATS Tower, Pandri, Raipur, CG, 492 002

T : 0771 4078994, 95, 96, 98 M : 9109951184, 9755199381 Toll Free : 1800 123 819999

eMail : admissions@matsuniversity.ac.in Website : www.matsodl.com